बीरबल साहनी

राष्ट्रीय जीवनचरित

बीरबल साहनी

शक्ति एम. गुप्ता

अनुवाद

रा. प्र. जायसवाल

नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया

श्रीमती साहनी
को
उनके साहस के लिए

विषय - सूची

आभार

अपने जीवन में जो गतिनिर्धारक एवं मार्ग अन्वेषक होते हैं उनके संबंध में लिखना आसान नहीं और प्रोफेसर बीरबल साहनी ऐसे ही व्यक्ति थे ।

इस जीवनी के लिखने में मैंने डा. साहनी की बहन श्रीमती लक्षवंती मल्होत्रा और उनकी पत्नी श्रीमती सावित्री साहनी के बाल्यकाल के संस्मरणों का व्यापक रूप से उपयोग किया है । श्रीमती साहनी के जीवन का ध्येय उन कार्यों को जीवित रखना और चलाते रहना है जिन्हें डा. साहनी अपनी अकाल मृत्यु के कारण पूरा नहीं कर सके । उन्होंने कृपा करके अपने पास सुरक्षित लेखों को मुझे देखने के लिए दिया, जिनसे मैंने अनेक बातें लीं । इसके अतिरिक्त मुझसे चर्चा करने के लिए उन्होंने अपना अमूल्य समय भी दिया ।

अपने भाई डा. प्रह्लाद देव मल्होत्रा और ले. कर्नल अरविन्द देव मल्होत्रा की भी मैं आभारी हूं, जिनकी सहायता, इस जीवनी की सामग्री चयन करने में बहुमूल्य सिद्ध हुई । लखनऊ के बीरबल साहनी पुरावनस्पति विज्ञान संस्थान के डा. आर. एन. लखनपाल ने कृपा करके पांडुलिपि का अवलोकन किया और अनेक सुझाव दिये जो बड़े सहायक सिद्ध हुए ।

प्रोफेसर बीरबल साहनी के अकस्मात देहावसान हो जाने पर उनके बहुसंख्यक अनुसंधान लेखों तथा विद्धत्‌जनों द्वारा इस महामानव को अर्पित श्रद्धांजलियों से मैंने प्रचुर सामग्री ली है ।

लखनऊ स्थित पुरावनस्पति विज्ञान संस्थान, विज्ञान में उनके योगदान का स्थायी स्मारक है। यदि उनका निधन कुछ वर्षों बाद होता तो पुरावनस्पति विज्ञान और वैज्ञानिक जगत की उपलब्धियां और अधिक होतीं, परंतु जैसा किसी कवि ने कहा है, "भले लोग जल्दी चले जाते हैं, पर ग्रीष्म की धूलि के समान सूखे हृदय वाले जीवन की आखिरी सांस तक तिल तिल करके मरते हैं ।"

नयी दिल्ली
1978

शक्ति एम. गुप्ता

1

पुरावनस्पतिज्ञ

प्रोफेसर बीरबल साहनी के लिए 10 अप्रैल, 1949 की अर्धरात्रि में भगवान के यहां से बुलावा आ गया । यह बुलावा उस समय आया जब प्रोफेसर साहनी अपनी व्यवसायिक वृत्तिका के शिखर पर थे और संसार के अग्रणी पुरावनस्पतिज्ञों में से एक के रूप में दूर दूर तक विख्यात थे ।

सितंबर 1948 में प्रोफेसर बीरबल साहनी संयुक्त राष्ट्र अमेरिका के व्याख्यान पर्यटन से लौटकर भारत आए । पुरावनस्पति विज्ञान संस्थान के भवन की लखनऊ में नींव रखी जानी थी । उनका परम अभीष्ट स्वप्न साकार होने जा रहा था, पर वे थके-हारे प्रतीत होते थे । उन्हें पूर्ण विश्राम करने की सलाह दी गई और भविष्य के कार्यक्रम में निमग्न होने के पूर्व पुनः स्वास्थ्य लाभ के लिए अल्मोड़ा घूम आने को कहा गया । परंतु प्रोफेसर साहनी लखनऊ में रुके रहने और अपने पूर्व निर्धारित कार्य को संपन्न करने पर अडिग थे । ऐसा प्रतीत होता था कि उन्हें अपनी मृत्यु का पूर्वाभास मिल गया था । इस कार्याधिक्य और दुश्चिंता के फलस्वरूप उन पर हृद्धमनी धनास्रता का आक्रमण हुआ, जो घातक सिद्ध हुआ। यह दुखद दिन तत्कालीन प्रधानमंत्री और उनके निजी मित्र पंडित जवाहरलाल नेहरू द्वारा पुरावनस्पति विज्ञान संस्थान के भवन की आधारशिला रखे जाने के ठीक एक सप्ताह बाद आया ।

3 अप्रैल, 1949 को संस्थान की आधारशिला विशिष्ट व्यक्तियों की उपस्थिति में 53, विश्वविद्यालय मार्ग, लखनऊ में रखी गई । 3 फुट X 2 फुट आकार की आधारशिला चित्रित थी । यह संसार भर के सत्तर दुर्लभ जीवाश्म-प्रतिदर्शों में अंतःस्थापित कर बनाई गई थी और उनके घर पर स्वयं उन्हीं की देख-रेख में दृढ़ीभूत की गई थी । यह विचित्र संयोग था कि पंडित नेहरू ने भी वनस्पति विज्ञान तथा भूविज्ञान का अध्ययन कैम्ब्रिज में किया था । वे प्रोफेसर साहनी के लगभग समकालीन थे और दोनों का जन्म 14 नवंबर को हुआ था ।

यह विधि की विडंबना ही है कि जिस स्थान पर खड़े होकर प्रोफेसर साहनी

ने केवल एक सप्ताह पूर्व उद्घाटन भाषण दिया था, वही स्थान बाद में उनका चिर-विश्राम स्थल बना और उसी स्थान पर उनके नश्वर शरीर को विलाप करते हुए संबंधियों, मित्रों, शिष्यों और सहयोगियों के समक्ष पवित्र अग्नि को समर्पित किया गया । इस प्रकार वह सतत सक्रिय व्यक्ति, जिसने तीस वर्ष से अधिक समय तक कठोर परिश्रम किया था और वैज्ञानिक जगत को पुरावनस्पति विज्ञान का नवीन परिप्रेक्ष्य दिया था, अंततोगत्वा शांति की गोद में सो गया ।

उनके जीवन के अंतिम दस वर्ष लखनऊ में पुरावनस्पति विज्ञान के संस्थान की स्थापना के लिए समर्पित थे । बहुत पहले 1939 में ही संपन्न किए गए अनुसंधान कार्यों को समन्वित करने और समय समय पर रिपोर्ट प्रकाशित करने के लिए वरिष्ठ पुरावनस्पतिज्ञों की एक समिति गठित की गई थी । 19 मई, 1946 को पुरावनस्पति विज्ञान समिति की स्थापना की गई तथा एक 'ट्रस्ट' बनाया गया, जिसका उद्देश्य व्यापक अंतराष्ट्रीय दृष्टिकोण वाला एक ऐसा अनुसंधान संस्थान स्थापित करना था जिसमें एक संग्रहालय, पुस्तकालय, प्रयोगशाला, आवास के लिए मकान तथा अनुषंगी भवन हो । एक संचालन मंडल का भी गठन किया गया जिसके अवैतनिक निदेशक प्रोफेसर साहनी नियुक्त किए गए । सब ओर से इसके लिए धन की वर्षा होने लगी और इंपीरियल केमिकल इंडस्ट्रीज तथा बरमा शैल ने दो अनुसंधान अध्येतावृत्तियों की भी व्यवस्था कर दी ।

पुरावनस्पति विज्ञान संस्थान, जिसे साकार बनाने के लिए डा. साहनी ने इतना घोर परिश्रम किया था, उनका आजीवन लक्ष्य रहा । इस प्रकार से संस्थान को आरंभ करने का विचार उनके मन में चौथे दशक के मध्य में ही उठा था । यद्यपि उन्होंने संस्थान का बीज तो आरोपित किया पर उसमें फूल खिलते हुए देखना उनके भाग्य में नहीं लिखा था । इस संस्थान को दृढ़ नींव पर खड़ा करने और अंतर्राष्ट्रीय मान्यता प्राप्त कराने का कार्य उनकी पत्नी श्रीमती सावित्री साहनी के लिए रह गया । उन्होंने सराहनीय काम किया है । यह संस्थान आज जिस रूप में है, उसका बहुत कुछ श्रेय उनके साहस को है, जिससे उन्होंने बड़ी बड़ी कठिनाइयां सही हैं । प्रोफेसर साहनी के अंतिम शब्द 'संस्थान का प्रतिपालन करना' उन्हीं के लिए कहे गए थे ।

2

पारिवारिक पृष्ठभूमि

प्रोफेसर बीरबल साहनी, प्रोफेसर रुचिराम साहनी एवं श्रीमती ईश्वर देवी की तीसरी संतान थे । उनका जन्म नवंबर, 1891 को पश्चिमी पंजाब के शाहपुर जिले के भेरा नामक एक छोटे से व्यापारिक नगर में हुआ था, जो अब पाकिस्तान में है। उनका परिवार वहां डेराइस्माइल खान से स्थानांतरित हो कर बस गया था । भेरा में उनका जन्म होना आकस्मिक घटना नहीं थी । लेखिका ने अपनी माता, प्रोफेसर बीरबल साहनी की सबसे छोटी बहन, श्रीमती लक्षवंती मल्होत्रा से सुना है कि उनकी माता श्रीमती ईश्वर देवी की धारणा थी कि परिवार से संबंधित सभी शुभ संस्कार तथा महत्वपूर्ण कार्य उनके पारिवारिक घर में होने चाहिए । अतएव प्रत्येक बार बच्चा जनने की संभावना होने पर वे लाहौर से भेरा चली जाती थीं । बीरबल साहनी के जन्म को बड़ा शुभ माना गया, क्योंकि जन्म के समय थोड़ी वर्षा हुई थी, जिसे हिंदू अत्यंत शुभ मानते हैं ।

कुटुंब के लोग स्कूल एवं कालेज की छुट्टियों में अक्सर भेरा चले जाते थे। वहां से युवा बीरबल अपने पिता तथा भाइयों के साथ आसपास के देहात के ट्रेक (कष्टप्रद यात्रा) पर निकल जाते । इन ट्रेकों में निकटस्थ लवण पर्वतमाला भी शामिल रहती, विशेषकर खेवड़ा । संभवतः उसी समय उनके मन में भूविज्ञान तथा पुरावनस्पति विज्ञान के प्रति रुचि जागृत हुई, क्योंकि लवण पर्वतमाला में पादपयुक्त शैल समूह थे । वास्तव में वह भूविज्ञान का संग्रहालय ही था । बाद के वर्षों में प्रोफेसर साहनी ने इस क्षेत्र के भूवैज्ञानिक काल-निर्धारण में महत्वपूर्ण योगदान दिया ।

प्रोफेसर साहनी केवल वैज्ञानिक तथा विद्वान ही नहीं, वरन बड़े देशभक्त भी थे। वे बड़े ही धार्मिक थे , पर अपने धार्मिक विचारों की कभी चर्चा नहीं करते थे । वे उत्कृष्ट गुणों से संपन्न व्यक्ति थे, उदार एवं आत्मत्यागी थे । उनमें ये गुण अपने पिता से आए थे जो स्वयं सभी सद्गुणों की मूर्ति थे । प्रोफेसर रुचिराम साहनी श्रेष्ठ विद्वान थे और समाज सुधार, विशेषकर स्त्री-स्वतंत्रता के क्षेत्र में अग्रणी थे ।

यह परिवार मूल रूप से सिंधु नदी के तट पर स्थित महत्वपूर्ण व्यापारी नगर डेराइस्माइल खान का था । प्रोफेसर रुचिराम साहनी जब बहुत कम आयु के थे तभी उन्हें यह शहर छोड़ना पड़ा क्योंकि परिवार की आर्थिक दशा बिगड़ गई और उनके पिता की मृत्यु हो गई, जिनका महाजनी का काम किसी समय खूब चलता था । लेखिका अभी स्कूल में पढ़ रही थी । उसे अपने पितामह प्रोफेसर साहनी से अपने परिवार का इतिहास उस समय ज्ञात हुआ, जब वह उनके साथ कश्मीर स्थित गुलमर्ग में गर्मी की छुट्टियां बिता रही थी । प्रोफेसर रुचिराम साहनी किस कठोर धातु के बने थे यह इन कहानियों से समझा जा सकता है। निस्संदेह इसका प्रभाव उनके पुत्र बीरबल साहनी पर भी पड़ा । इस संबंध में एक खास किस्से का उल्लेख करना समीचीन होगा । जब परिवार के लोगों को डेराइस्माइल खान स्थित अपने विशाल भवन को छोड़कर एक छोटे-से घर में रहना पड़ा और विलासिता की सभी चीजों को छोड़ देना पड़ा, तब रुचिराम साहनी ने अपने पिता के पास आकर शिकायत की कि उनके बचपन के साथी उन्हें चिढ़ाते हैं क्योंकि उस समय वे रेशम की कमीज या सोने की बालियां और कड़े नहीं पहनते थे जो उन दिनों संपन्न लोगों की प्रामाणिकता का चिह्न था । उनके पिता का उत्तर था, 'चारों ओर काले काले बादल घिर आए हैं; वे जितना भी बरसना चाहें बरसें, पर केवल कपड़ों को ही भिगो सकते हैं, आंतरिक उत्साह को ठंडा नहीं कर सकते एक न एक दिन ये बादल छंट जाएंगे ।'

परंतु कहना जितना आसान था, करना उतना नहीं । अभी रुचिराम साहनी बच्चे ही थे कि उनके पिता की मृत्यु हो गई । उसके बाद डेराइस्माइल खान में, जहां परिवार को प्रतिष्ठा एवं ऐश्वर्य प्राप्त था, रहना संभव नहीं था । पर रुचिराम साहनी पारिवारिक वैभव को लगे इस पहले धक्के से डरने वाले नहीं थे । वे अपनी पुस्तकों के पुलिंदे सहित, हर कीमत पर शिक्षा प्राप्त करने का संकल्प लिए, एक सौ पचास मील दूर झंग चले गए । यह शहर अब पश्चिमी पंजाब, पाकिस्तान में है । उन्होंने केवल छात्रवृत्ति के सहारे शिक्षा प्राप्त की । बुद्धिमान और होनहार बालक होने के कारण उन्हें छात्रवृत्तियां प्राप्त करने में कठिनाई नहीं हुई । प्रारंभिक दिन बड़े ही कष्ट में बीते । अपनी झंग यात्रा के संबंध में उन्होंने लेखिका को एक रोचक कहानी सुनाई । रास्ते में जब रात घिरने को आई तब वे एक छोटे-से पड़ाव पर पहुंचे । उनके पास किताबों का गट्ठर और एक रुपया बीस पैसे थे, जो उनके जैसे विपन्न बालक के लिए एक खजाने के ही समान था । सराय में उनके ठहरने का प्रश्न ही नहीं उठता था। उनके सामने केवल दो विकल्प थे । रात या तो किसी अस्तबल में बिताएं या किसी पेड़ पर चढ़कर सो जाएं । वे डरते थे कि अस्तबल में उनकी किताबें

चोरी न चली जाएं जो उनकी अमूल्य निधि थी । अतः वे एक पेड़ पर चढ़ गए, पर गिरने के डर से आंखें भी बंद नहीं कीं । छात्र-जीवन के ऐसे दुखमय दिनों के बाद वे बढ़ते बढ़ते लाहौर के शासकीय कालेज में रसायन शास्त्र के प्रोफेसर के पद पर आसीन हो गए । लाहौर तब तक परिवार का घर बन गया था और भेरा गौण स्थान पर चला गया था । यद्यपि यह परिवार अब भी भरुची अर्थात भेरा निवासी कहलाता था ।

प्रोफेसर रुचिराम साहनी ने उच्च शिक्षा के लिए अपने पांचों पुत्रों को इंग्लैंड भेजा तथा स्वयं भी वहां गए । वे मैनचेस्टर गए और वहां कैम्ब्रिज के प्रोफेसर अर्नेस्ट रदरफोर्ड तथा कोपेनहेगन के नाइल्सबोर के साथ रेडियो एक्टिविटी पर अन्वेषण कार्य किया । प्रथम महायुद्ध आरंभ होने के समय वे जर्मनी में थे और लड़ाई छिड़ने के केवल एक दिन पहले किसी तरह सीमा पार कर सुरक्षित स्थान पर पहुंचने में सफल हुए । वास्तव में उनके पुत्र बीरबल साहनी की वैज्ञानिक जिज्ञासा की प्रवृत्ति और चारित्रिक गठन का अधिकांश श्रेय उन्हीं की पहल एवं प्रेरणा, उत्साहवर्धन तथा दृढ़ता, परिश्रम और ईमानदारी को है । इसकी पुष्टि इस बात से होती है कि प्रोफेसर बीरबल साहनी अपने अनुसंधान कार्य में कभी हार नहीं मानते थे, बल्कि कठिन से कठिन समस्या का समाधान ढूंढ़ने के लिए सदैव तत्पर रहते थे । इस प्रकार, जीवन को एक बड़ी चुनौती के रूप में मानना चाहिए, यही उनके कुटुंब का आदर्श वाक्य बन गया था ।

प्रोफेसर बीरबल साहनी स्वतंत्रता संग्राम के पक्के समर्थक थे । इसका कारण भी संभवतया उनके पिता का प्रभाव ही था । उनके पिता ने असहयोग आंदोलन के दिनों, 1922 में अंग्रेज सरकार द्वारा प्रदान की गई अपनी पदवी अमृतसर के जलियांवाला बाग में हुए नरसंहार के विरोध में वापस कर दी थी यद्यपि उनको धमकी दी गई कि पेंशन बंद कर दी जाएगी । रुचिराम साहनी का उत्तर था कि वे परिणाम भोगने को तैयार हैं । पर उनके व्यक्तित्व और लोकप्रियता का इतना जोर था कि अंग्रेज सरकार को उनकी पेंशन छूने की हिम्मत नहीं पड़ी और वह अंत तक उन्हें मिलती रही ।

वे दिन उथल-पुथल के थे । स्वतंत्रता संग्राम अपने चरम उत्कर्ष पर था। देश के लक्ष्य, पूर्ण स्वतंत्रता की प्राप्ति में देशभक्ति की भावना से भरे सभी मनुष्य किसी न किसी प्रकार से योगदान कर रहे थे । इस संक्रांति काल में उनके लाहौर स्थित भवन में मेहमान के रूप में ठहरने वाले मोतीलाल नेहरू, गोखले, मदन मोहन मालवीय, हकीम अजमलखां जैसे राजनीतिक व्यक्तियों का प्रभाव भी उनके राजनीतिक संबंधों पर पड़ा । ब्रैडला हाल के समीप उनके मकान के स्थित होने का भी उनके राजनीतिक झुकावों पर असर पड़ा क्योंकि ब्रैडला हाल पंजाब की राजनीतिक

गतिविधियों का केंद्र था । उन दिनों राजनीतिक नेताओं की गिरफ्तारियों, राजनीतिक सभाओं की बैठकों, अश्रुबमों के छोड़े जाने, बेगुनाहों पर लाठी प्रहार और अंधाधुंध गिरफ्तारियों की खबरें लगभग रोज ही आती थीं । युवक बीरबल के संवेदनशील मन पर इन सब बातों का प्रभाव पड़े बिना न रहा होगा । फलतः विदेश में अपनी शिक्षा पूरी करके 1918 में भारत लौटने के तुरंत बाद से बीरबल साहनी ने हाथ का कता खादी का कपड़ा पहनना आरंभ कर दिया और इस प्रकार अपनी राजनीतिक भावनाओं को व्यवहारिकता का रूप दिया ।

बीरबल साहनी बड़े निष्ठावान पुरुष थे । संभवतया यह गुण उन्होंने अपनी आत्मत्यागी माता से पाया था, जो रूढ़िवादी और दिखावा-रहित होते हुए भी ठेठ पंजाबी महिला थीं—मन की दृढ़ और बहादुर । उन्होंने अनेक कठिनाइयों से गुजरते हुए परिवार की नाव को पार लगाया । कट्टरपंथी मित्रों तथा संबंधियों के दृढ़ विरोध और स्वयं अपनी अनुदारवादिता के बावजूद वे पुत्रियों को उच्च शिक्षा दिलाने की पति की इच्छा को मान गईं । वर्तमान शताब्दी के प्रारंभिक वर्षों में यह अपने आप में क्रांतिकारी कदम था । वास्तव में, उन्होंने अपने सभी बच्चों को स्वस्थ शिक्षा दिलाने का प्रयत्न किया, जो उनके बाद के जीवन में बड़े काम आई । प्रोफेसर रुचिराम साहनी की तृतीय पुत्री श्रीमती कोहली को पंजाब विश्वविद्यालय, लाहौर की प्रथम महिला स्नातक होने का गौरव प्राप्त था । उन दिनों की प्रथानुसार लड़कियों का विवाह कम आयु में ही कर दिया जाता था, अतएव श्रीमती ईश्वर देवी लड़कियों का विवाह बड़ी आयु में करने के पक्ष में नहीं थीं, फिर भी उन्होंने पति की इच्छा मानकर परिवार की लड़कियों का विवाह अल्पायु में ही करने पर जोर नहीं दिया ।

बीरबल साहनी बचपन में ही अपनी दयालुता के लिए प्रसिद्ध हो गए थे । भाई-बहनों में झगड़ा होने पर सदैव उन्हीं को मध्यस्थ चुना जाता था, क्योंकि वे निष्पक्ष माने जाते थे । कोई यह धारणा न बना ले कि वे गंभीर प्रकृति के विनोद रहित युवक हैं, इसलिए मैं जोर देकर कहना चाहती हूं कि वे क्रियात्मक परिहास के लिए प्रसिद्ध थे और बहुधा अपने छोटे भाइयों और बहनों के अगुआ बनकर उनसे ऐसे उपद्रव कराते कि उनके पिता बड़ी उलझन में पड़ जाते । यह उपद्रवी प्रवृत्ति अनेक रूपों में प्रकट होती । एक बार परिवार के लोग छुट्टी बिताने के लिए गर्मी में शिमला गए हुए थे । वहां वे लोग परिवार के कुछ मित्रों के साथ एक ही घर तथा बगीचे का उपयोग करते थे । सब्जी के बगीचे में उन लोगों ने मक्का तथा ककड़ी लगाई थी । किसी कारणवश, बीरबल के कुटुंब को लाहौर लौटना पड़ा । इसका अर्थ यह था कि सब्जी के बगीचे का, जिसमें ककड़ी लगी हुई थी, आनंद केवल उनके पड़ोसी उठाते । यह बात उपद्रवी युवा

बीरबल की सहनशक्ति के परे थी । उन्होंने योजना बनाई कि जाने से पहले रात्रि में सभी पके फल तोड़ लिए जाएं और सभी पौधों की जड़ें एकदम मूल से ही काट दी जाएं ताकि शैतानी का पता न चल सके । उनकी बहनों और भाइयों ने विधिवत इस योजनानुसार कार्रवाई की और परिणामस्वरूप पौधे उसके बाद शीघ्र ही सूख गए । उनके पड़ोसियों की समझ में ही नहीं आया कि सिंचाई करने और खाद देने पर भी पौधे किस कारण जीवित न बच सके । इस शरारत का पता उन्हें बहुत बाद में लगा जब वे लोग छुट्टी खतम होने के बाद वापस लौटकर लाहौर आये और अपने साथ किए गए छल को जाना ।

बाद के जीवन में भी बीरबल साहनी अपने युवा भतीजों और भतीजियों के साथ सदा क्रियात्मक परिहास करते रहते थे या वनस्पति विज्ञान संबंधी पर्यटनों में अपने छात्रों को हास्य विनोद की बातें और चुटकुले सुनाया करते थे । उनके भतीजे-भतीजियों ने उनका नाम 'तमाशे वाला अंकल' रख दिया था । उनका प्रिय परिहास था दस्ताना पहनें हुए बंदर के खिलौने के साथ खिलवाड़ करना । इसे उन्होंने 1913 में जर्मनी में खरीदा था जब वे ग्रीष्म के अर्धवार्षिक पाठ्यक्रम में, सम्मिलित होने के लिए वहां गए थे । इसके अंतर्गत म्यूनिख में वनस्पति विज्ञान पर प्रोफेसर गोयबेल के व्याख्यान होते थे । दस्ताना पहने हुए बंदर को वे इस तरह पकड़े रहते थे कि जब तक किसी को मालूम न हो कि यह खिलौना है वह यही समझता था कि यह बंदर का बच्चा है, जिसे वे पुचकार रहे हैं । दस्ताने वाले बंदर को न केवल सब बच्चों के मनोरंजन का, वरन एक प्रकार से उनके और पत्नी के बीच के संकोच को दूर करने का भी श्रेय था । जब प्रोफेसर साहनी विवाह के बाद पहली बार पत्नी से मिलने आए तब अपने और युवा पत्नी के बीच की संकोचभरी चुप्पी और उलझन को दूर करने के लिए उन्होंने कोट के पाकेट से झांकते हुए बंदर का केवल मुंह पत्नी को दिखाया और कहा, "यह मेरा पालतू बंदर है जो मुझे अत्यंत प्रिय है । अब तक केवल मैं ही इसकी देखभाल करता रहा हूं, लेकिन मैं चाहता हूं कि अब से तुम इसकी देखभाल करो ।" उसके बाद उन्होंने पत्नी से बंदर को पुचकारने को कहा, क्योंकि उसे स्नेह और प्यार चाहिए था । उनकी पत्नी को यह नहीं मालूम था कि वह बंदर केवल खिलौना है, अतः उसे छूने में उन्हें हिचकिचाहट हुई । बंदर के समीप जाने पर जब उन्हें मालूम हुआ कि वह मात्र खिलौना है और प्रोफेसर साहनी ने केवल परिहास किया है तब दोनों ही हंस पड़े और उनके बीच का संकोच दूर हो गया ।

प्रोफेसर साहनी का साहचर्य अपने प्रिय खिलौने, दस्ताने युक्त बंदर के साथ इतना अधिक था कि उनको इससे अलग करना कठिन था । वह उदास मानवीय

मुखाकृति वाला बंदर सौभाग्यजनक था और दूरस्थ देशों तक जहाज, भूमि तथा वायु मार्ग से उनके साथ साथ सब स्थानों की यात्रा पर जाया करता था । कोई भी ऐसा देश नहीं था कि जहां प्रोफेसर साहनी दस्तानेयुक्त बंदर को साथ लिए बिना गए हों । यह खिलौना बंदर, जिसका नाम उन्होंने गिप्पी रखा था, प्रोफेसर साहनी की अन्य मूल्यवान वस्तुओं के साथ पुरावनस्पति विज्ञान संस्थान में उनके कक्ष में प्रदर्शन की प्रतीक्षा में है ।

बीरबल साहनी का पालन उदार भावनाओं के वातावरण में हुआ था । रसायन शास्त्र के अध्ययन के लिए उनके पिता कलकत्ता गए थे क्योंकि पंजाब विश्वविद्यालय में उस समय उसके लिए यथोचित साधन उपलब्ध नहीं थे । वह ऐसा समय था जब कलकत्ता में ब्रह्म समाज का आंदोलन खूब जोरों पर था । केशवचंद्र सेन के व्याख्यानों को सुनकर वे ब्रह्म समाज के सिद्धांतों से बड़े प्रभावित हुए और इस नवीन प्रगतिशील समाज के दृढ़ अनुयायी बनकर लाहौर लौटे । ब्रह्म समाज सामाजिक और धार्मिक चेतना का जागरण था जिसने आज के बदले हुए युग के संद्रर्भ में निरर्थक अनेक पुराने रीति-रिवाजों को तोड़ डाला था । इसकी एक बड़ी प्रगतिशील प्रवृत्ति थी, जाति-पांति के बंधन से मुक्त होना । लाहौर ब्रह्म समाज दल के एक नेता के रूप में प्रोफेसर रुचिराम साहनी ने इसे व्यवहारिकता में परिणत कर अपने सबसे बड़े लड़के डा. विक्रमजीत साहनी की शादी जाति के बाहर कर दी और अपनी बिरादरी को चुनौती दी कि यदि साहस हो तो उन्हें जाति से बहिष्कृत कर दें । बहिष्कार करने का साहस तो किसी को नहीं हुआ, पर अनेक लोगों ने असहमति अवश्य व्यक्त की । उनके लाहौर के गृह में जाति, संप्रदाय या धर्म का बंधन नहीं था । सभी धर्मों के मानने वाले वहां बराबर आया करते थे और राजनैतिक, धार्मिक तथा साहित्यिक वाद-विवाद खुलकर होते थे । जब पंजाब में आर्य समाज का सामाजिक-धार्मिक, राजनैतिक और शैक्षिक आंदोलन चला, प्रोफेसर रुचिराम साहनी लाहौर के उन प्रमुख बुद्धिजीवियों में थे जिन्होंने इस पर अपनी सहमति की घोषणा की थी । बीरबल साहनी का पालन-पोषण ऐसे वातावरण में हुआ था जिसमें बड़ों की आज्ञा मानने की तो आशा की जाती थी, पर छोटों की राय की भी कद्र की जाती थी । इसकी पुष्टि उनके छोटे भाई डा. एम. आर. साहनी के इस कथन से होती है, "पिताजी ने उनके वृत्तिक के लिए इंडियन सिविल सर्विस की योजना बनाई थी...बीरबल को प्रस्थान की तैयारी करने को कहा गया । इसके बारे में वाद-विवाद की अधिक गुंजाइश नहीं थी, पर मुझे बीरबल का यह उत्तर स्पष्टतया याद है कि यदि यह आज्ञा ही हो तब वे जाएंगे, परंतु यदि इस संबंध में उनकी रुचि का ध्यान रखा गया तब वे वृत्तिक के रूप में वनस्पति विज्ञान में अनुसंधान कार्य ही करेंगे और कुछ नहीं । यद्यपि इससे कुछ

देर के लिए तो पिताजी आश्चर्यचकित रह गए, पर शीघ्र ही अपनी सहमति प्रदान कर दी क्योंकि दृढ़ अनुशासनप्रियता के बावजूद वे महत्वपूर्ण बातों में चुनाव की स्वतंत्रता देते थे । पिताजी उन अनुशास्त्राओं में से थे जिनका सुझाव मात्र यह तय करने के लिए काफी होता था कि निर्णय क्या है ?"

जिस वातावरण में गुरुजनों की आज्ञाकारिता के साथ साथ स्वयं विचार करने और अपने ही निर्णय के अनुसार कार्य करने का अधिकार था, जिस वातावरण में विदेशी शासन के प्रति सतत विद्रोह व्याप्त था, जिस वातावरण में उच्च-शिक्षा का महत्व था, ऐसे ही वातावरण में बीरबल साहनी का बचपन व्यतीत हुआ ।

3

स्कूल एवं कालेज की शिक्षा

साहनी की संपूर्ण प्रारंभिक शिक्षा भारत में ही हुई । स्कूल की पढ़ाई समाप्त करने के बाद वे शासकीय कालेज, लाहौर में भर्ती हो गए । उन्होंने प्रसिद्ध ब्रायोविज्ञ प्रोफेसर शिवराम के तत्वावधान में वनस्पति विज्ञान का अध्ययन किया और उन्हीं की प्रेरणा से वनस्पति विज्ञान को अपने प्रमुख वृत्तिक के रूप में चुना । पौधों के प्रति बीरबल का प्रेम उनकी बहुत कम आयु में ही दिखाई पड़ने लगा । पादपालय बनाने के लिए पौधों को एकत्र करने अथवा और अधिक अध्ययन के लिए उन्हें बोतलों में सुरक्षित रखने की उनकी आदत से परिवार वाले अभ्यस्त हो गए थे । शासकीय कालेज के विद्यार्थी जीवन में साहनी को अपने घर से और आगे, शहर की चारदीवारी के बाहर ब्रैडला हाल के समीप स्थित खुले मैदान में घूमने की आदत थी । बहुधा जो पौधे नए प्रतीत होते उन्हें वे उखाड़ कर बगीचे में लगाने के लिए घर लाते । इसी प्रकार एक बार उनको इंडियन लेबरनम (कैसिया फिस्टुला) का एक छोटा-सा पौधा मिला, जो जनसाधारण में अमलतास या 'गोल्डेन शावर' के नाम से विख्यात है । गोल्डेन शावर नाम पढ़ने का कारण यह है कि पेड़ के नीचे गिरी हुई गोल स्वर्ण पीत पंखुड़ियां दूर से ऐसी प्रतीत होती हैं जैसे स्वर्ण-मुद्राएं बिखरी हुई हों । अपनी खोज से उत्तेजित होकर जब बीरबल दौड़े हुए घर आए तब उत्तेजना से उनकी सांस फूल रही थी । उनके छोटे भाइयों और बहनों के साथ बच्चों का पूरा दल उस स्थान पर पहुंचा, जहां वहं पौधा उगा हुआ था और पौधे को खोदकर इसे उनके बाग में लगाया । वर्षों बाद जब पौधा बढ़कर वृक्ष हो गया और पीले पीले फूलों के गुच्छे उसमें आने लगे तब घर वालों के हर्ष का पारावार न रहा । सुदूर गांवों से आने वाले उनके संबंधी पेड़ के फल को दवाई के लिए इकट्ठा करना और इसके लिए बीरबल को आशीर्वाद देना न भूलते । देश-विभाजन के पीछे 1947 में हुए सर्वनाश के बाद जब उनका कुटुंब लाहौर से चला गया तब भी वह पेड़ वहीं था । परंतु तब तक 'इंडियन लेबरनम' वृक्ष के प्रति उनका प्रेम एक आख्यान ही बन गया था । जब उन्होंने लखनऊ में गोमती के किनारे अपना घर बनाया तब सड़क

के दोनों ओर इसी वृक्ष को लगाया । ग्रीष्म के तप्त आकाश में जब पीले फूलों के लटकते हुए गुच्छों से लदे पेड़ों की परछाई गोमती में दिखाई पड़ती तब वह दृष्य मन हर लेता और शहर के अधिकांश सैलानी उसकी प्रशंसा किए बिना न रहते ।

बीरबल साहनी ने सन 1911 में पंजाब विश्वविद्यालय से स्नातक की उपाधि ली और उसी वर्ष इंग्लैंड जाकर इमानुयेल कालेज, कैम्ब्रिज में नाम लिखाया । कैम्ब्रिज में स्नातक की उपाधि उन्हें 1914 में मिली और तुरंत ही वे उस समय के प्रसिद्ध वनस्पतिज्ञ प्रोफेसर ए.सी. स्टुआर्ट के मार्गदर्शन में गंभीर अनुसंधान में जुट गए । 1919 में बीरबल साहनी को जीवाश्मी पादपों पर अनुसंधान के लिए लंदन विश्वविद्यालय द्वारा विज्ञान वारिधि (डी.एस.सी.) की उपाधि प्रदान की गई। उनमें वनस्पति विज्ञान का प्रेम और भारत के जीवित पौधों का ज्ञान इतना अधिक था कि जब वे छात्र थे तभी उनसे कहा गया कि भारत में वनस्पति विज्ञान के विद्यार्थियों की आवश्यकता के अनुरूप वे लाउसम की वनस्पति विज्ञान की पुस्तक में संशोधन करें । लाउसम और साहनी की वनस्पति विज्ञान की यह पाठ्य पुस्तक भारत के कालेजों और विश्वविद्यालयों में अब भी व्यापक रूप से पढ़ी जाती है। पर इस महत कार्य के लिए बीरबल साहनी को केवल 20 पौंड की तुच्छ राशि मिली; रायल्टी में भी कोई हिस्सा नहीं मिला । पर इससे भी खराब बात यह हुई कि उनसे एक करारनामा लिखाया गया जिसमें यह शर्त थी कि वे जीवन भर वनस्पति विज्ञान की कोई दूसरी पाठ्य पुस्तक नही लिखेंगे, जिससे इस पुस्तक की बिक्री में रुकावट पड़े ।

4

उनकी यात्राओं का विवरण

प्रोफेसर साहनी बड़े ही भ्रमणशील व्यक्ति थे, केवल भारत की ही नहीं, वरन संसार के विभिन्न देशों की वे अनेक बार यात्रा कर चुके थे । भारत में उन्हें हिमालय के विस्तृत क्षेत्र के आर-पार 'ट्रेक' करने की बड़ी उत्कंठा रहती थी । यह लालसा उन्हें अपने पिता से उत्तराधिकार में मिली थी जो स्वयं ट्रेक करने के लिए अत्यंत लालायित रहते थे और अपने छोटे छोटे बच्चों को भी पहाड़ों की विविध यात्राओं में साथ ले जाते थे । युवक के रूप में बीरबल ने जो अनेक यात्राएं कीं उनमें पठानकोट से रोहतांग दर्रे तक (12,000 फुट ऊंचा), कालका से कसौली, सबाथु, शिमला, नारकंडा, रामपुरबुशहर, किल्बा तथा बुरन दर्रा (16,800 फुट ऊंचा) होकर तिब्बत की सीमा तक, श्रीनगर से जोजीला दर्रे के पार द्रास तक, श्रीनगर से अमरनाथ (14,000 फुट) तक, शिमला से रोहतांग दर्रे तक अनेक अन्य स्थानों के ट्रेक सम्मिलित थे । उन्होंने सुदूर तिब्बत तक की यात्रा की थी । 1911 की ग्रीष्म ऋतु में इंग्लैंड के लिए प्रस्थान करने के ठीक पहले जब वे मचोई हिमनद की यात्रा पर थे, जो जोजीला से अधिक दूर नहीं है, तब बीरबल ने बर्फ में से एक दुष्प्राप्य लाल शैवाल एकत्र किया । इस नमूने को वे अपने साथ इंग्लैंड ले गए जहां कैम्ब्रिज के वनस्पति विज्ञान स्कूल में प्रोफेसर सेवार्ड द्वारा इसका परीक्षण किया गया । मचोई हिमनद के इसी दौरे में जब वे एक गह्वर में झांक रहे थे उन्हें बर्फ में जमकर मरा हुआ एक घोड़ा दिखाई दिया, जो अपनी बर्फीली कब्र में उसी भांति परिरक्षित था । केवल कम कीमती और बर्फ पर पैर फिसलने से रोकने में सक्षम स्थानीय लोगों द्वारा परंपरा से पहनी जाने वाली हाथ की बटी रस्सी की चप्पल पहने और एक स्थानीय मार्गदर्शक एवं अपने भाइयों को साथ लिए उन्हें एकाएक बोध हुआ कि एक भी गलत कदम उठा नहीं कि उनकी भी वही दशा होगी, जो घोड़े की हुई थी ।

विद्यार्थी जीवन की यात्राओं को छोड़कर भारत के बाहर के विभिन्न देशों के उनके दौरों का उद्देश्य या तो व्याख्यान-पर्यटन था या संगोष्ठियों में भाग लेना था,

विश्वविद्यालयों एवं संस्थाओं का निरीक्षण करना अथवा किसी वैज्ञानिक समिति की अध्यक्षता करना था । विवाह के पश्चात ट्रेकों और दौरों में श्रीमती साहनी अवश्य उनके साथ होतीं । इस प्रकार का एक ट्रेक उनके लिए अविस्मरणीय था । वे श्रीनगर से यूरी होते हुए ट्रेक कर रहे थे पुंछ से चोर पंजाल, पाल गगरियां और फिर गुलमर्ग । जब वे नये स्थानों का अन्वेषण करते तब साहसिक कार्यों के प्रति उनके प्रेम से बहुधा संकट उत्पन्न हो जाता । यह ट्रेक भी ऐसा ही था जिसमें उनका दल बाल बाल बचा । श्रीमती साहनी और भारिकों के एक छोटे दल के साथ उन्होंने एक बड़े ऊंचे स्थान पर डेरा लगाया । जब संध्या होने को आई, बर्फ गिरने लगी । हिमपात इतने जोरों का था कि सब लोगों के खो जाने का खतरा जान पड़ता था । प्रोफेसर साहनी ने सधे पैर वाले हट्टे-कट्टे कुलियों से कहा कि वे समय रहते सुरक्षित स्थान में चले जाएं और पत्नी के साथ स्वयं हिमाच्छादित कब्र की आशंका से जूझने को तैयार हो गए । उस कठोर शीत में जब सब चीजें जम गई थीं वह कराल रात्रि बितानी कठिन थी । पर उनके सौभाग्य से एक भारिक ने, जो सुरक्षित स्थान पर पहुंचने में सफल हुआ था, दूसरों को सूचना दी कि प्रोफेसर अपनी सुंदर पत्नी के साथ बर्फ में फंस गए थे । प्रोफेसर साहनी ने ट्रेक के लिए भारिकों को उसी गांव से भाड़े पर लिया था और स्वयं गांव के सरपंच की ही देख-रेख में वे लोग मेहनताने पर रखे गए थे । जब उसे पति-पत्नी के दुर्भाग्य की सूचना मिली तो उनके बचाव के लिए एक दल संगठित किया । प्रातः होने पर जब प्रोफेसर साहनी ने बायनोकुलर से उद्धारक दल को अपनी ओर आते देखा तब उन्हें अपनी आंखों पर विश्वास ही नहीं हुआ । सौभाग्य से जो लोग उन्हें सुरक्षित स्थान पर ले जाने के लिए आए थे वे लंबे-चौड़े, तगड़े आदमी थे और रास्ते से परिचित थे । पर तब तक बर्फ घुटनों तक पहुंच चुकी थी ।

बहुत कम लोगों को मालूम है कि कला में प्रोफेसर साहनी को बड़ी रुचि थी । वे संगीत बहुत पसंद करते थे और सितार तथा वायलिन बजा सकते थे। रेखा चित्रण एवं मृत्तिका प्रतिरूपण उनका सबसे बड़ा शगल था । जब कभी समय मिलता, वे शतरंज की एक बाजी अवश्य खेलते । वे बचपन से ही खेलों के बड़े शौकीन थे और खेलों में उनकी अभिरुचि ढलती उम्र तक बनी रही । स्कूल तथा कालेज में वे बड़े उत्साह से हाकी और टेनिस खेलते थे और इन संस्थाओं के हाकी एकादश के सदस्य थे । कैम्ब्रिज में भी वे टेनिस के खेल में भारतीय मजलिस के प्रतिनिधि थे और आक्सफोर्ड मजलिस के विरुद्ध खेलते थे ।

प्रोफेसर साहनी मूल रूप से पुरावनस्पतिज्ञ एवं भूवैज्ञानिक थे, परंतु उनकी रुचि का आयाम बड़ा विस्तृत था । वे अनेक अन्य विषयों, जैसे पुरातत्व तथा मृदा शास्त्र में भी रुचि लेते थे ।

5

पुरावनस्पति विज्ञान

पुरावनस्पति विज्ञान भूवैज्ञानिक अतीत के पादपों से संबंधित विज्ञान है; यह चट्टानों में सुरक्षित पादप-जीवाश्मों या पादप-अवशेषों के अध्ययन पर आधारित है । ये पत्तों, बीजों, टहनियों, बीजाणुओं, फूलों, फलों या वृक्षों के टुकड़ों के रूप में पाए जाते हैं, परंतु संपूर्ण जीवाश्मित पादप शायद ही कभी मिलते हैं । जीवाश्मी अभिलेखों से शैली का काल निर्धारित किया जा सका है, क्योंकि किसी भी अवसाद स्तर या शैल समूह में उसके अभिलाक्षणिक प्रकार का ही प्राणी पाया जाता है । काल की प्रगति के साथ साथ पादप एवं प्राणी संरचना की जटिलता बढ़ती गई है । यह पृथ्वी के विभिन्न स्तरों में पाए जाने वाले जीवाश्मी अभिलेखों से स्पष्टतया प्रकट होता है । अतः जीवाश्मों को सूचक के रूप में उपयोग करके किसी भी शैल के काल का सामान्य निर्धारण कुछ प्रमुख पादप या प्राणी समूहों की उपस्थिति या अनुपस्थिति के आधार पर किया जा सकता है । इन जीवाश्मों में प्राग्जीव महाकल्प में या पंद्रह अरब (15,000,000,000) वर्ष पूर्व पृथ्वी पर जलीय पादपों के होने का अभिलेख मिलता है । भूपादपों का अस्तित्व सर्वप्रथम पुराजीवी महाकल्प में बने सिल्यूरियन शैलों में मिला । छोटे सरल जीवों से उच्च स्तरीय संरचना, विकास एवं संगठन के आधुनिक आवृतबीजी वृक्षों में पादपों के विकासीय अभिवर्धन का वनस्पति विज्ञान से घनिष्ठ संबंध है । पादप जीवाश्मों की यह स्तरिक उपस्थिति भूविज्ञान के क्षेत्र में आती है । यदि किसी वनस्पतिजात के उद्भव, प्रमुखता एवं विलोपन का संबंध ज्ञात काल के शैलों से स्थापित किया जा सके तब उसी प्रकार के पेड़-पौधों से युक्त अन्य शैलों का सहसंबंध शैलों के काल से स्थापित करना भूवैज्ञानिकों के लिए संभव है । जीवाश्मी पादप अतीत की जलवायु एवं स्थलाकृति के संबंध में यथेष्ट विश्वसनीय प्रमाण भी भूवैज्ञानिक को देते हैं। और तब संबंधित जीवित रूपों के लिए आवश्यक ताप एवं आर्द्रता की तुलना जीवाश्मी पादपों की आवश्यकता से करके भूवैज्ञानिक काफी यथार्थतापूर्वक भूवैज्ञानिक अतीत के पादपों की परिस्थितियों का सहसंबंध निर्धारित कर सकते हैं, क्योंकि

दोनों समान परिस्थितियों में ही जीवित रहे होंगे । इस तरह भू तथा वनस्पति वैज्ञानिक दोनों का ही मत है कि पादप जीवाश्मों से केवल यही नही ज्ञात होता कि किसी विशेष किस्म का पौधा कब उगा और विकसित हुआ था तथा किस प्रकार की भूमि पर था वरन यह भी कि अति सरल से अति जटिल तक उन्नत होने में पौधे किस विकासीय पथ से गुजरे । इसके अतिरिक्त उनसे प्रमुख पादप समूहों का संबंध भी ज्ञात होता है । जीवाश्म अभिलेखों और पृथ्वी के भूवैज्ञानिक काल के अध्ययन से पता चलता है कि साईल्यूरियन काल के प्रारंभ अर्थात 32 करोड़ 50 लाख वर्ष पूर्व तक काष्ठीय पादपों का लेशमात्र चिह्न नहीं था । आवृतबीजी और पंखहीन कीट डिवोर्नी कल्प में अर्थात स्थूल रूप से 31 करोड़ 60 लाख वर्ष पूर्व दिखाई पड़े । प्रथम पंखयुक्त कीट का अभिलेख उपरिकार्बनी शैलों द्वारा 23 करोड़ वर्ष पूर्व मिलता है । परिचित आधुनिक पौधे या आवृतबीजी सर्वाधिक उन्नत किस्म के पादप हैं; जिन शैल समूहों पर वे पाए जाते हैं वे क्रिटेशस कल्प या उसके बाद के काल के हैं । ऐसा प्रतीत होता है कि पृथ्वी के प्राणि-जात एवं वनस्पति जात ने अपना आधुनिक रूप सर्वप्रथम इसी समय अर्थात लगभग 6-7 करोड़ वर्ष पूर्व अपनाना शुरू किया । अधिक आदिम पादप या टेरिडोस्पर्म यूरैसिक में विलुप्त हो गये जान पड़ते हैं । कार्बनी कल्प के टेरिडोस्पर्म बहुमूल्य सूचकों में गिने जाते हैं, क्योंकि ये शीघ्रता से विकसित हुए और विलुप्त होने के पहले भूवैज्ञानिक काल के केवल एक अल्प खंड में जीवित रहे । इन जीवाश्मों के अच्छे सूचक होने का एक और कारण यह है कि उनकी कुछ जातियां प्रचुरता से उगी थीं और विस्तृत भौगोलिक क्षेत्र में फैली थीं । अतः यदि सूचक जीवाश्म अज्ञात काल के शैलों में मिले, तब कुछ भूवैज्ञानिक निष्कर्षों का मिलान कर इन शैलों के काल का सहसंबंध उन शैलों से स्थापित किया जा सकता है जिनका काल भली-भांति ज्ञात हो ।

प्रोफेसर साहनी ने सरल भाषा में इसकी व्याख्या इस प्रकार दी, “हम एक स्तर का दूसरे से अंतर उनमें पाए जाने वाले जीवाश्म अवशेषों से अधिक निश्चयपूर्वक बता सकते हैं । उदाहरण के लिए, कल्पना कीजिए कि किसी कोयले की खान में एक दिन कोई आदमी गड्ढे के किनारे बैठ कर अंगूर खा रहा था और बीजों को पानी में फेंक रहा था । तब उस समय बन रहे खड़िया के स्तर विशेष में पाए जाने वाले अंगूर के बीजों से सप्ताह के दिन को सरलता से बताया जा सकता है । अथवा, यदि किसी विशेष रात को खान की किसी रोशनी के चारों ओर घेरे हुए कीटों के झुंड में से गड्ढे में गिरे हुए अथवा जल-धारा से बहा कर इसमें लाए गए कुछ कीट उस समय बन रहे खड़िया के स्तर में दब जाएं, तब उस स्तर के बनने का ठीक ठीक दिन तथा समय उसके अंतर्गत पाए जाने वाले कीटों के अवशेषों से बताया जा सकता है ।

6

प्रारंभिक जीवन-वृत्ति

कैम्ब्रिज में अपनी शिक्षा समाप्त कर प्रोफेसर साहनी 1919 में भारत लौटे और बनारस विश्वविद्यालय में वनस्पति विज्ञान के प्रोफेसर नियुक्त हो गए। वहां एक वर्ष पढ़ाने के बाद वे लाहौर चले गए और 1920 से 1921 तक पंजाब विश्वविद्यालय में वनस्पति विज्ञान पढ़ाते रहे। 1921 में डा. साहनी लखनऊ विश्वविद्यालय में वनस्पति विज्ञान के प्रोफेसर नियुक्त हुए। तब से वनस्पति विज्ञान विभाग के तथा बाद में भूविज्ञान विभाग के भी अध्यक्ष पद पर वे 1949 में अपनी मृत्युपर्यंत बने रहे।

वनस्पति विज्ञान के विभाग का भार संभालने पर प्रोफेसर साहनी ने जिन कार्यों को प्राथमिकता दी, उनमें पूर्व स्नातक कक्षाओं के पाठयक्रमों में परिवर्तन और प्रवीण तथा स्नातकोत्तर कक्षाओं के अध्यापन का संचालन था। अपने भारी कार्यक्रम के बावजूद वे बी.एससी. की कक्षाओं में स्वयं पढ़ाने के निश्चय पर दृढ़ थे, क्योंकि उनका विचार था कि विद्यार्थियों में अच्छे अनुशासन की भावना उत्पन्न करने के लिए वरिष्ठ शिक्षकों को कुछ सीमा तक कनिष्ठ कक्षाओं को संभालना चाहिए। इससे संतुलित एवं क्रमबद्ध अध्यापन की व्यवस्था होती है और युवा प्रभावशील मस्तिष्क वालों को प्रोत्साहन तथा उचित मार्गदर्शन मिलता है। विद्यार्थियों में निजी रुचि लेने के कारण वे श्रद्धा के पात्र समझे जाते थे। विद्यार्थियों के रेखाचित्रों का वे स्वयं निरीक्षण करते थे और कठिन बात को समझाते समय कभी क्रोध नहीं करते थे। कठोर परिश्रम करने वाले मेहनती छात्रों की वे सदैव सराहना करते पर सुस्त छात्रों को अकस्मात डांट देते जिससे अनिच्छुक विद्यार्थी भी तेजी से पढ़ाई करने लगते।

एक बार किसी अनिवार्य कारणवश प्रोफेसर साहनी ने पूर्व स्नातक कक्षाओं को पढ़ाना छोड़ दिया। इससे छात्रों में बड़ी हलचल मच गई और वे श्रीमती साहनी के पास पहुंचे तथा उनकी ओर से प्रोफेसर साहनी से सिफारिश करने की प्रार्थना की। फल आशा के अनुरूप ही हुआ और प्रोफेसर साहनी फिर से

पूर्व-स्नातक कक्षाओं को पढ़ाने लगे ।

कम आयु में अंतर्राष्ट्रीय ख्याति पाने या उपाधियों की वर्षा होने से, आशा के विपरीत, उन्हें अभिमान नहीं हुआ । उनकी प्रफुल्लता, विनम्रता तथा उपयोगिता में कोई कमी नहीं आई और छात्रों को जब भी उनके परामर्श या मार्गदर्शन की आवश्यकता होती वे बिना किसी झिझक के उनके पास पहुंच जाते । भारत के भूवैज्ञानिक सर्वेक्षण के श्री आर. एस. सी. पाल लखनऊ विश्वविद्यालय में अपने विद्यार्थी जीवन की एक घटना सुनाते हैं । उनके विश्वविद्यालय में भर्ती होने के बाद पहली छुट्टी पड़ी । श्री पाल अपने घर जा रहे थे ! कोई सवारी मिल ही नहीं रही थी, उधर गाड़ी छूटने का समय निकट आता जा रहा था । वे विश्वविद्यालय मार्ग पर इस आशा से पैदल चल पड़े कि स्टेशन जाने के लिए कोई न कोई सवारी मिल ही जाएगी । तभी उनके पास एक मोटर गाड़ी आकर रुकी और उसके चालक ने उनसे बार बार सिर घुमा कर पीछे की ओर देखने का कारण पूछा और कहा कि क्या वह कुछ सहायता कर सकता है ? युवक पाल ने अपने डर का कारण बताया । मोटर कार चालक ने उन्हें गाड़ी के अंदर बैठने को कहा और गाड़ी पकड़ने के लिए समय से स्टेशन पंहुचा दिया । कार से उतरने के बाद पाल ने उनसे पूछा कि इस सहायता के लिए वह किसका आभारी है । उत्तर में कहा गया, "मेरा नाम बीरबल साहनी है" और कार चल पड़ी । पाल बीरबल साहनी के नाम और ख्याति से परिचित था पर उसने उन्हें कभी देखा नहीं था ।

श्रीमती साहनी को 1923 की वह भयंकर बाढ़ स्मरण है, जब गोमती नदी के उफनते हुए जल ने किनारों को तोड़ कर लखनऊ के विस्तीर्ण क्षेत्र को डुबो दिया था । यह घटना प्रोफेसर साहनी के वृत्तिक के प्रारंभिक काल की है । उनका घर नदी के बिल्कुल समीप था और बढ़ी हुई नदी के रोष से अछूता न बचा। बाढ़ का पानी इतनी तेजी से बढ़ता आ रहा था कि अधिकांश साज-सामान और माल-असबाब को बचाना असंभव था । भाग्य से प्रोफेसर साहनी किसी तरह अपने जीवाश्मों तथा अनुसंधान लेखों को समय पर सुरक्षित स्थान पर हटा देने में सफल हुए । पर उपलब्ध आवासीय स्थान की कमी के कारण कुछ समय के लिए उन्हें तीन अन्य परिवारों के साथ, जो वैसी ही कठिनाई में थे, एक ही घर में रहना पड़ा । अति स्थानाभाव के कारण रसोईघर भी साझे में था और इन सभी परिवारों की स्त्रियां बारी बारी से रसोई की देखभाल करती थीं । दोपहर का भोजन समय पर तैयार हो जाए, यह देखने की बारी एक दिन श्रीमती साहनी की थी । देर होती जा रही थी, पर कामचलाऊ रसोईघर में आग जलने का नाम ही नहीं लेती थी । आखिर श्रीमती साहनी का धैर्य जाता रहा और उन्होंने रसोइए से लकड़ी

के लट्ठों को हवा करने को कहा ताकि आग तेजी से जल सके । उसने भुनभुनाकर कहा, "मैं घंटे भर से इस लट्ठे को झाड़ रहा हूं, हवा कर रहा हूं, पर यह ऐसा अड़ियल है कि जलता ही नहीं" मेरी समझ में नहीं आता कि यह कैसी लकड़ी है । श्रीमती साहनी ने अधीरता से कहा, "परे हटो, तुम आग भी नहीं जला सकते । लाओ मुझे दो ।" पर जैसे ही उन्होंने उस लकड़ी को खींचा, वैसे ही देखा कि यह तो वही काष्ठाश्म था जिसे प्रोफेसर साहनी अपनी निजी वस्तुओं की उपेक्षा कर, जलमग्न गृह से निकालकर सुरक्षित स्थान पर लाए थे । रसोईया भूल से इसे जलाने का ईंधन समझ बैठा था । यह काष्ठाश्म 6 करोड़ वर्ष पूर्व आदि नूतन कल्प का, संभवतया दक्कन के अंतर्राष्ट्रीय शैल से प्राप्त द्विबीजपत्री था ।

सहयोगियों और छात्रों का कहना है कि प्रोफेसर साहनी के पढ़ाने का ढंग बड़ा ही सरल और सीधा था । वे किसी विषय के स्पष्ट रूप से महत्वपूर्ण तथ्यों और स्थूल रूप रेखाओं पर पहले जोर देते फिर सूक्ष्म विवरणों को बताते । व्याख्यान के साथ साथ वे निदर्श चित्रों को दोनों हाथों से चर्चा के अनुरूप जल्दी जल्दी खींचते जाते पर कोई भी ब्यौरा नहीं छोड़ते । उनके अध्यापन की सबसे महत्वपूर्ण बात यह थी कि वे विषय से संबंधित अधुनातन अनुसंधान कार्य और भारत में उसकी प्रगति को बतलाना कभी नहीं भूलते थे । असाधारण स्मरण शक्ति से संपन्न होने के कारण उन्हें सरलतापूर्वक संदर्भों से उदाहरण देने में न तो कठिनाई होती थी, न पढ़ाते समय टिप्पणियों की सहायता लेने की आवश्यकता पड़ती थी । उनके सहयोगी लखनऊ विश्वविद्यालय के भूविज्ञान विभाग के डा. ए. आर. राव के अनुसार श्रोता चाहे जो भी हों, उनके व्याख्यानों की विशेषता रहती–उल्लेखनीय सरल एवं स्पष्ट शैली, सीधी तथा यथार्थ अभिव्यक्ति और ब्यौरों पर ध्यान । शुद्ध उच्चारण, भाषा पर पूर्ण अधिकार और वाणी में माधुर्य के कारण उनके व्याख्यानों का आकर्षण और बढ़ जाता था ।

प्रोफेसर साहनी के व्याख्यानों की प्रसिद्धि के कारण उनकी वनस्पति विज्ञान की कक्षा में प्रवेश पाने के लिए भारत के सभी क्षेत्रों से छात्र खिंचे चले आते। परंतु अनुसंधानकर्ता प्रोफेसर साहनी ही अध्यापक प्रोफेसर साहनी पर छाए हुए थे। उनके जीवन की सबसे प्रबल लालसा थी अनुसंधान करना और अपने छात्रों से भी वे अनुसंधान के प्रति वैसी ही समर्पण की भावना की आशा करते थे । परिश्रम, यथार्थ तथा ब्यौरों का ध्यान रखने पर वे जोर देते और अपने छात्रों से भी इन्ही की आशा करते क्योंकि इससे छात्रों में उत्तरदायित्व की भावना, आत्मविश्वास और यथार्थ तथा व्यवस्थित कार्य के प्रति लगाव उत्पन्न होता था । "डा. राव के अनुसंधान के अनुसार अनुसंधान लेखों से संलग्न निदर्श चित्रों को खूब

सावधानीपूर्वक बना हुआ निर्दोष होना चहिए था ।"

लखनऊ विश्वविद्यालय के जीवन एवं स्तर में प्रोफेसर बीरबल साहनी का महत योगदान यह नहीं था कि वे वनस्पति विज्ञान तथा भूविज्ञान विभागों के अध्यक्ष थे वरन यह कि इन विभागों को उन्होंने देश में अध्यापन एवं अनुसंधान के उच्चतम केंद्रों में परिणत कर दिया था । फिर भी उनके सभी प्रयासों के बावजूद संयुक्त प्रदेश (उत्तर प्रदेश) की सरकार ने विभाग के लिए जीवाश्म काटने की मशीन और अन्य आवश्यक सहायक यंत्रों को खरीदने के लिए 1932 से पहले 4000 रुपयों की स्वीकृति नही दी । फलतः कम समय में अधिक उत्पादन उसके बाद ही संभव हो सका । उस समय तक वे स्वयं जीवाश्मों को तार लगी आरी से काटते थे।

यद्यपि लखनऊ विश्वविद्यालय में वनस्पति विभाग बहुत वर्षों से था, परंतु इस विभाग का प्रमुख आकर्षण पुरावनस्पति विज्ञान ही था । प्रोफेसर साहनी के मन में बहुत दिनों से यह भावना थी कि वहां भूविज्ञान की शिक्षा की व्यवस्था न होने से आवश्यक भूवैज्ञानिक पृष्ठभूमि के अभाव में पुरावनस्पति विज्ञान के छात्रों को बड़ी असुविधा होती थी, अतएव, लखनऊ विश्वविद्यालय में भूविज्ञान का विभाग खोलने के लिए उन्होंने अनेक वर्षों तक अथक परिश्रम किया और अंत में 1943 में विज्ञान की इस शाखा को वहां खुलवाने में सफल हुए । इस विभाग के भी वे ही अध्यक्ष थे और एम. एससी. में आकृति विज्ञान की नियमित पढ़ाई आरंभ करने के पूर्व स्नातकोत्तर विद्यार्थियों को स्वयं भौतिक तथा स्तरित भूविज्ञान पढ़ाते थे । पुरावनस्पति विज्ञान का एक विशेष पर्चा एम. एससी. के विद्यार्थियों के लिए रखा गया और इस विषय में उच्च अनुसंधान के लिए केवल उन्हीं विद्यार्थियों को योग्य समझा जाता, जिन्होंने इस पर्चे को लिया हुआ था ।

प्रोफेसर साहनी विज्ञान की एक शाखा की समस्या का हल दूसरी शाखा की विधि से ढूंढ़ने का प्रयत्न करते थे । 1936 में उन्होंने 'करेंट साइंस' में लिखा था कि "यह युग विशेषता का है, जिसकी अनिवार्य प्रवृति विचार को अलग अलग खानों में आबद्ध करने की है, अतः विज्ञान की एक शाखा का जो संबंध अन्य शाखा से होता है, लोग उस पर या तो ध्यान नहीं देते या उसे महत्वहीन समझते हैं ।"

वैज्ञानिक समस्याओं को सुलझाने की उनकी विधि निराली थी । उदाहरण के लिए उन्होंने महाद्वीपीय विस्थापन के सिद्धांत का अध्ययन जीवाश्म पादपों के दृष्टिकोण से किया, अथवा इस बात का अध्ययन किया कि चावल एवं अन्य खाद्यान्नों की खेती बहुत पहले सिंधु घाटी सभ्यता में कैसे की जाती थी, जिससे पुरातत्व और वनस्पति विज्ञानों के परस्पर संबंध पर प्रकाश पड़ा । सिंधु घाटी सभ्यता (2500 ई. पू.) के एक महत्वपूर्ण नगर हड़प्पा की एक यात्रा में साहनी

ने शंकु वृक्षों की एक जाति के अवशेषों की खोज की जिससे पता चला कि इस प्रागैतिहासिक नगर के निवासी पहाड़ों में रहने वालों के साथ व्यापार करते थे, क्योंकि हड़प्पा में तो शंकु वृक्ष उगते ही नही थे, अतएव यह लकड़ी अवश्य पहाड़ों से ही लाई गई होगी ।

इसी प्रकार रोहतक के निकट स्थित खोकरा कोट के टीले में उन्हें चावल की भूसी की आकृति की छाप मिट्टी में मिली जो ओरोइजा सैटाइबा प्रकारीय से मिलती थी, जिसकी एक ही कणिशिका में एक से अधिक दाने होते हैं । उन्होंने वहां से प्राप्त टेराकोटा के रासायनिक उपचार से कोशिकाओं और रंध्रों को भी निकाला । इस प्रमाण से उनमें यह दृढ़ धारणा उत्पन्न हुई कि इस किस्म का चावल दो हजार वर्ष पूर्व यौधये जनजाति द्वारा बोया जाता था । रोहतक के निकट मिले कतिपय सिक्कों के सांचों पर काफी अनुसंधान करने के कारण उन्होंने रोहतक नाम की व्युत्पत्ति ढूंढ़ने का प्रयास किया । उन्होंने पाया कि इस नगर का नाम एक पौधे पर रखा गया है जिसे रोहिटक (लेटिन नाम अमूरा रोहिटुका-डब्ल्यू. एवं ए. पर्याय ऐन्डरसोनिया रोहिटुका-आर.) कहा जाता है । उनके कथनानुसार पेड़-पौधों के प्रकाशित नामों को देखने से मालूम होता है कि यह पौधा पंजाब में कहीं नहीं पाया जाता; सच तो यह है कि अवध के पश्चिम उत्तर भारत में कहीं नहीं पाया जाता । संभवतया ऐतिहासिक काल में यह पंजाब से विलुप्त हो गया । अमूरा रोहिटुका मीलियेसी कुल का सदस्य है । यह मध्यम आकार का सदाबहार वृक्ष है, जिसमें भारी पर्णिल शीर्ष होता है । इसकी छाल कषाय होती है । कहा जाता है कि अवध और उत्तर भारत, पश्चिमी घाट श्रीलंका तथा मलाया समेत यह विस्तृत क्षेत्र में पाया जाता है ।

1936 में साहनी ने हिमालय की करेवा श्रेणी से कुछ पत्रक एकत्र किए जो मानव रचित अश्मोपकरण प्रतीत होते हैं । इस प्रमाण से उन्होंने यह साबित किया कि हिमालय का उत्थान भारत में मानव के आगमन के बाद हुआ ।

विविध विषयों में रुचि उस मनुष्य की बहुमुखी प्रतिभा का द्योतक है । वे केवल जीवाश्मी वनस्पति विज्ञान की सीमा में अपने को नहीं बांधे रखते थे वरन लगभग सभी संबंधित विषयों में रुचि लेते थे ।

प्रोफेसर साहनी का विचार था कि अनुसंधान का महत्त्व उपाधि प्राप्ति से अधिक अनुसंधान के ही लिए है । इसी कारण 1932 तक उन्होंने वाचस्पतीय (डाक्टरेट) शोधपत्र के लिए किसी छात्र को अपने मार्गदर्शन के अंतर्गत नहीं लिया । पहली बार केवल 1933 में कुछ छात्रों ने उनकी देखरेख में पीएच. डी. उपाधि के लिए नाम लिखाया । तब से इस महान वैज्ञानिक के सहयोग से काम करने के इच्छुक छात्रों का तांता बंधा रहा । 1933 से 1939 तक सोलह छात्रों ने उनके मार्गदर्शन

में वाचस्पति (डाक्टर) की उपाधि प्राप्त की ।

यद्यपि स्वयं वे पुरावनस्पतिज्ञ थे, पर विज्ञान की सभी शाखाओं में अनुसंधान को प्रोत्साहन देते थे । वास्तव में उन्हीं के सहानुभूतिपूर्ण प्रोत्साहन से उस विभाग में पारिस्थितिकी, कवच विज्ञान, ब्रायोफाईटा विज्ञान जैसे वनस्पति विज्ञान के अन्य क्षेत्रों में भी अनुसंधान की प्रगति हुई । अनुसंधान को ही प्रोत्साहन देने के लिए उन्होंने अपने पिता प्रोफेसर रुचिराम साहनी के नाम पर एक अनुसंधान पुरस्कार भी स्थापित किया । इस पुरस्कार को उस मासिक भत्ते से स्थापित किया गया, जो उन्हें विज्ञान संकाय के अध्यक्ष होने के नाते मिलता था । यह पुरस्कार वनस्पति विज्ञान संबंधी सर्वश्रेष्ठ अनुसंधान कार्य के लिए वनस्पति विज्ञान विभाग के किसी स्नातकोत्तर विद्यार्थी को दिया जाता था । प्रोफेसर साहनी को यह दुर्लभ गौरव प्राप्त था कि 1933 में वे सर्वसम्मति से विज्ञान संकाय के अध्यक्ष (डीन) चुने गए और 1949 में अपनी मृत्युपर्यंत उस पद पर आसीन रहे ।

7

भारतीय मुद्राशास्त्र को योगदान

24 मार्च, 1936 को पंजाब विश्वविद्यालय के निमंत्रण पर प्रोफेसर साहनी विस्तार व्याख्यान देने के लिए रोहतक गए। उनके एक मित्र डा. वी. एस. पुरी ने उनका ध्यान शहर के एकदम निकट स्थित खोकराकोट के एक टीले की ओर आकर्षित किया। वहां प्रोफेसर साहनी ने वर्षा से बने खड्डों के टूटते हुए किनारों के विभिन्न स्तरों से झांकते हुए बहुसंख्यक अवशेषों की खोज की। उनके भाई डा. एम. आर. साहनी के शब्दों में, "भूवैज्ञानिक के हथौड़ों की चोट से किसी पुरावनस्पतिज्ञ द्वारा किया गया यह पुरातात्विक अन्वेषण उस मनुष्य की जीवनशक्ति एवं बहुमुखी प्रतिभा का प्रतीक था।"

जब प्रोफेसर साहनी कोई कार्य अपने हाथ में लेते तब उसे वैज्ञानिक रीति से परिश्रमपूर्वक करते। इसका प्रमाण खोकराकोट में किया गया उनका अन्वेषण है। उन्होंने केवल सिक्कों के सांचों की ही खोज नहीं की, वरन प्राचीन भारत में सिक्कों के ढालने की विधि का भी विस्तारपूर्वक अध्ययन किया। इससे उन्हें अन्य देशों में प्रचलित सिक्कों के ढालने की तकनीक का विशेष अध्ययन करने की प्रेरणा मिली, विशेषकर चीन और रोमन काल में यूरोप तथा उत्तरी अफ्रीका द्वारा अपनाई तकनीकों की। उन्होंने इन देशों की विधियों की तुलना भारत में प्रचलित विधि से की। उनके द्वारा एकत्र और अध्ययन किए गए विपुल उपात्तों से यह जानकर बड़ा हर्ष होता है कि रोमनकाल से सौ वर्ष पूर्व भारत ने एक ऐसा जटिल बहुमुखी सांचा विकसित किया था, जो उस समय तक यूरोप में निकाले गए किसी भी सांचे से कहीं अधिक दक्षतापूर्ण था। यह कार्य 1945 में भारतीय मुद्राशास्त्रीय सभा की पत्रिका में प्रबंध के रूप में प्रकाशित हुआ। इस लेख का शीर्षक था – 'प्राचीन काल में सिक्कों के ढालने की प्रविधि'।

प्रोफेसर साहनी इन हजारों पक्वमृत्तिका के सांचों के, जिनमें तब भी कुछ सिक्के पड़े हुए थे, आकस्मिक अन्वेषण के महत्व को तुरंत समझ गए। भारतीय मुद्रा शास्त्र के इतिहास में यह अन्वेषण सर्वाधिक शुभ खोज थी। इस अन्वेषण की

घोषणा प्रोफेसर साहनी ने अपने एक लेख द्वारा की, जिसका शीर्षक था – 'यमुना घाटी में स्थित रोहतक के खोकराकोट टीले से प्राप्त पुरावशेष' । 1936 में यह 'करेंट साइंस' के मई अंक में प्रकाशित हुआ । सिक्कों के सांचों के, जो सरका 100 ई. पू. के प्रतीत होते थे, उन्होंने प्लास्टीसीन पाजीटिव बनाए और प्रसिद्ध भारतीय विद्याविद डा. काशी प्रसाद जायसवाल से उनके अंकित अंतर्लेखों को स्पष्ट करने को कहा । डा. जायसवाल द्वारा स्पष्ट किए गए अंतर्लेख थे यौधेयान बहुधानयक अर्थात बहुधानयक के यौधेयों के सिक्के ।

डा. वासुदेवशरण अग्रवाल के कथनानुसार यद्यपि एक शताब्दी से अधिक समय से यौधेयों के सिक्के ज्ञात थे, पर हमें पहली ही बार उनके टकसाल नगरों में से एक आंखों के समक्ष दिखाई पड़ा, वह भी रोहतक के ठीक उपनगरीय भाग में । इससे भी अधिक मूल्यवान बात यह थी कि बहुधानयक के यौधेय प्रजातंत्र की एक महत्वपूर्ण शाखा के नाम का पता चला । इस खोज से महाभारत में उल्लेखित (सभा पर्व अ. 32, 4,5) बहुधानयक के यौधेयों के वर्णन की पुरातत्वीय पुष्टि हुई । इसने इस महाकाव्य के ऐतिहासिक और भौगोलिक पृष्ठभूमि पर सत्यापन की मुद्रा अंकित कर दी । सारे भारत के पुरातत्वविदों तथा इतिहासकारों ने इसका स्वागत उत्साहवर्द्धक अन्वेषण के रूप में किया । स्वर्गवासी डा. काशी प्रसाद जायसवाल ने इस महत्वपूर्ण अन्वेषण की घोषणा 1936 में उदयपुर में हुए भारतीय मुद्रा शास्त्रीय संघ के अपने अध्यक्षीय भाषण में की । प्राचीन भारत में सिक्का ढालने की विधियों के अपने विस्तृत अध्ययन से प्रोफेसर साहनी यह सिद्ध करने में सफल हुए कि डा. एफ. आर. हार्वे द्वारा 1884 में वर्णित पंजाब में लुधियाना के निकट स्थित सुमेत से पाई गई कुछ तथाकथित मुद्राएं, वास्तव में मुद्रा सांचे थे, जिनमें बाद में कुछ यौधेय सिक्के ढाले गए होंगे । इस सूत्र को पकड़कर उन्हें बहुत-सी ऐसी सामग्री मिली जिससे उन्होंने निष्कर्ष निकाला कि संभवतया सुनेत यौधेयों के अपेक्षाकृत नये टकसाल का स्थान था । जैसे रोहतक का बहुधानयक टकसाल इस प्रसिद्ध यौद्धा जाति के पहले के सदस्यों का था ।

प्रोफेसर साहनी की मृत्यु के बाद उनकी पत्नी श्रीमती सावित्री साहनी ने सिक्कों के सांचों के संग्रह को प्रधानमंत्री पंडित जवाहरलाल नेहरू को अर्पित कर दिया और अब वह नई दिल्ली के राष्ट्रीय संग्रहालय में रखा हुआ है ।

8

खजियार का तिरता द्वीप

प्रोफेसर साहनी लाहौर में छात्र थे तभी 1910 में पटानकोट से खजियार चम्बा-लेह और वापसी में जिला दर्रा-बल्टाल-अमरनाथ-पहलगांव तथा अंत में जम्मू के ट्रेक पर गए । उनका पहला पड़ाव खजियार में था जो पहले के चम्बा राज्य और अब हिमाचल प्रदेश में स्थित एक छोटी-सी जगह है । खजियार में समुद्रतल से 6,400 फुट की ऊंचाई पर एक सघन वन में स्थित झील के किनारे शाद्वल में बने डाक बंगले में ठहरे । अंडाकार शाद्वल का, वन के छोर से झील के चतुर्दिक की कच्छ भूमि की ओर हल्का ढलान था । झील के जल के उपर घने ऊंचे नरकुलों, फ्रैगमाइटीज काम्यूनिस से भरा एक द्वीप ऐसे सरकता है जैसे हल्की हवा में पाल वाली नाव धीमी गति से बह रही हो । झील की गहराई का पता नही है, पर परंपरागत किवदंती है कि झील के पवित्र जल की गहराई अगाध है और द्वीप दैविक शक्ति से तिरता है । झील के किनारे मंदिर बना हुआ है और वहां प्रतिवर्ष एक धार्मिक मेला लगता है ।

प्रोफेसर साहनी ने इस विचित्र तिरते हुए द्वीप को देखा, पर इस बात को वहीं नहीं छोड़ दिया । सच्चे वैज्ञानिक होने से उनके मन में इसके प्रति रुचि और जिज्ञासा जाग्रत हो गई । उन्होंने इसमें गहरी रुचि ली और पाया कि द्वीप घने फ्रैगमाइटीज अर्थात ऐसे जीन्स से ढका है जो झील के किनारों पर अथवा उस स्थल के आसपास मीलों तक नहीं उगता है । इस प्रकार के अनेक तिरते हुए द्वीप उनको 1910 में मंडी राज्य (अब हिमाचल प्रदेश) के अंतर्गत एक छोटे-से सरोवर रिवलसर में दिखाई पड़े । बाद में प्रोफेसर साहनी को ज्ञात हुआ कि इस प्रकार के तिरते हुए उपद्वीप बरमा के दक्षिणी शान राज्य की झीलों में भी थे ।

उन्होंने पाया कि खजियार और रिवलसर में परिस्थितियां एक जैसी थीं । अतः उन्होंने निष्कर्ष निकाला कि दो विभिन्न स्थानों में इन दोनों द्वीपों का उद्भव एक ही प्रकार से हुआ था ।

इस खजियार के द्वीप या तिरते हुए फेन की तुलना उन्होंने डैन्यूब के डेल्टा

ईस्ट ऐम्लिया और कश्मीर आदि अन्य स्थानों में पाये जाने वाले फेनों से की। उक्त जलवायवीय एवं मृदीय परिस्थतियों में फ्रैगमाइटीज का होना वनस्पति सहचरों के अनुक्रम में एक विशिष्ट चरण का द्योतक है, जैसे अनावृत जलमग जलीय पौधे–तिरते पत्र सहचर, नरकुल दलदल सहचर, नरकुल-फेन सहचर । उन्होंने निष्कर्ष निकाला कि "खजियार के वर्तमान तिरते हुए फेन का उद्‌भव भी वनस्पति की अनुक्रमिक प्रावस्थाओं के कारण हुआ है जैसा कि अन्य स्थानों में देखा गया है। दूसरे शब्दों में झील के चारों ओर कभी नरकुल-फेन उगा जिसका बचा हुआ अवशेष अब केवल वर्तमान उपद्वीप है और झील कभी बहुत बड़ी रही होगी ।" उनके अनुसार वनस्पति के संकेंद्री क्षेत्र अनवरत रूप से अभिकेंद्रीयतः बढ़ रहे थे और झील को क्षति पहुंचाते हुए शाद्वल बढ़ रहे थे ।

9

वैज्ञानिक उपलब्धियां

प्रो. बीरबल साहनी की वैज्ञानिक उपलब्धियां इतनी अधिक हैं कि यहां उनकी सूची देना संभव नही। केवल कुछ सुप्रसिद्ध कार्यों का उल्लेख किया जा सकता है। यहां उल्लेखित विशिष्ट कार्यों में नेफ्रोलेपिस, निफोबोलस, टैक्सस, साईलोटम, मैसीटेरिस एवं एक्मोपाइल आदि जीवित पौधों पर उनके अन्वेषण हैं, जिससे इनकी विकासी प्रवृत्ति, भौगोलिक विवरण, संरचना और बधुंताओं आदि को समझने में बहुत सहायता मिली है। वे मूलतया पुरावनस्पतिज्ञ थे, अतः जीवित पौधों के अध्ययन में उनका योगदान अत्यंत प्रशंसनीय है। इनका प्रथम शोध-पत्र 'गिन्कगो बिलोबा के बीजांशों में विजातीय पराग की उपस्थिति और जीवाश्म पादपों के अध्ययन में इनका महत्व' 1915 में 'न्यू फाइटोलाजिस्ट' में प्रकाशित हुआ था। इतनी कम उम्र में वैज्ञानिक के रूप में इनकी पैनी विभेदक दृष्टि इस खोज के संबंध में लिखी गई उनकी इस बात से प्रकट होती है, "यदि ऐसा उदाहरण जीवाश्म अवस्था में पाया जाता है तो बहुत संभव है कि हम बीजांड और पराग को एक ही जाति से संबंधित मानते।" उन्होंने आगे लिखा, "केवल अंकुरण से यह निष्कर्ष नहीं निकालना चहिए कि बीजांड के अंदर के जीवाश्म परागकण उसी जाति के पौधों के हैं।" उनका यह निष्कर्ष विलक्षण था, क्योंकि अभी वे कुछ ही वर्ष पूर्व 1911 में कैम्ब्रिज गए थे। इस कथन से यह सिद्ध होता है कि उनमें विभेदन और तीव्र विश्लेषण की क्षमता थी अर्थात ऐसी अंतर्दृष्टि थी जो अन्वेषण में सफलता के लिए आवश्यक है।

उनका दूसरा शोध-पत्र (न्यू फाइटोलाजिस्ट 1915) नेफ्रोलेपिस वालुविलिस के शरीर पर था। यह एक पर्णांग है, जिसमें मातृपादप से लंबे लंबे भूस्तारी निकलते हैं। भूस्तारी विशाल जंगली वृक्षों पर चढ़ जाते हैं और बीच बीच में पार्श्व शाखाएं निकल कर मातृपादप से ऊंची उठ जाती हैं। प्रोफेसर साहनी ने इस पर्णांग के भूस्तारियों का आकारिकीय अध्ययन किया और विस्तृत विवरण द्वारा बताया कि किस ढंग से पार्श्व पादपों के आधारी ठोसरंभ रूपांतरित होकर जालरंभ

बन जाते हैं । इस आधार पर आगे चलकर उन्होंने नेफ्रोलेपिस कार्डोफोलिया (न्यू फाइटोलाजिस्ट, 1916) के कंदों की संवहनी रचना का अध्ययन आरंभ किया । इन शोध-पत्रों के प्रकाशन के तुरंत बाद उन्होंने 'फिलिकेल्स में शाखा विन्यास का विकास' शीर्षक से एक शोध-पत्र सडबरी हार्डीमैन पुरस्कार के लिए भेजा, जो 1917 में 'न्यू फाइटोलाजिस्ट' में प्रकाशित हुआ । इसमें उन्होंने लिखा, "यद्यपि साधारणतया पत्तियों के सापेक्ष शाखाओं की नियमित स्थिति नहीं होती है, पर ऐसा साहचर्य जहां होता है, वह अपने विकासीय उद्गम में गौण परिघटना के रूप में होता है जो संभवतया जैविक लाभ, जैसे नवीन कलिकाओं की सुरक्षा, के लिए होता है।

1919 में बीरबल साहनी ने लंदन विश्वविद्यालय के डाक्टर आफ साइंस (डी. एससी.) की उपाधि के लिए अपना शोध-प्रबंध पेश किया और अगले वर्ष इनके अन्वेषण से प्राप्त जानकारी रायल सोसायटी के फिलासाफिकल ट्रांजैक्शंस में प्रकाशित हुई । इस शोध-प्रबंध के लिए उन्होंने न्यू कैलिडोनिया में पाए जाने वाले दुर्लभ एवं अज्ञातप्राय शंकु वृक्ष एक्मोपाइल पंचेरीआई की आकारिकी और शरीर का विस्तारपूर्वक अध्ययन किया । इन पौधों के नमूने दक्षिण अफ्रीका के प्रो. आर. एच. काम्पटन ने 1914 में एकत्र किए थे । वे टुकड़ों में विभाजित थे और उनका रख-रखाव भली-भांति नहीं किया गया था । अतएव नए अनुसंधानकर्ता को इसका श्रेय है कि इन सब अड़चनों के बावजूद उसने इनका अध्ययन किया और डाक्टरेट के लिए शोध-प्रबंध लिखा ।

प्रो. साहनी ने कार्डेटलीज टेरिडोस्पर्म्स और शंकुवृक्षों के संबंधों की विवेचना की और यद्यपि उन्होंने प्रचलित धारणा कि कार्डेटलीज की उत्पत्ति टेरिडोस्पर्म स्टाक से होती है, को पूर्णतः अस्वीकार नहीं किया, फिर भी इसके विरोध में प्रबल तर्क प्रस्तुत किया । एक महत्वपूर्ण आकारिकीय लक्षण के आधार पर उन्होंने यह मत प्रस्तुत किया कि अनावृत बीजियों को दो समूहों में बांटा जा सकता है । एक फिलोस्पर्म्स जिसमें बीज पत्तियों पर उगते हैं और दूसरा स्टेकियोस्पर्म्स जिसमें बीज सामान्य अथवा रूपांतरित अक्ष पर होते हैं । फिलोस्पर्मी एवं स्टेकियोस्पर्मी के विभेद का विस्तार करके अब इसे संवहनी पादपों की सभी बीजधानियों की स्थिति पर अनुप्रयुक्त कर दिया गया है । यह कितना दिलचस्प है कि डा. साहनी ने 1920 में जो बात टैक्सस टोरेया एवं सेफालोटेक्सस के स्थान के संबंध में कही थी अर्थात यह कि तीनों वंशों (जीन्सों) को एक अलग गण टैक्सलीज के अंतर्गत रखा जाना चाहिए, क्योंकि इनमें कुछ स्पष्ट विशिष्टताएं और अन्य शंकुवृक्षों से अंतर है, अब 'फ्लोरिन' (दी बोटैनिकल गजट, 1948) द्वारा स्वीकार कर ली गई है ।

1919 में भारत लौटने पर प्रोफेसर साहनी ने भारतवर्ष में हो रहे पुरावनस्पति

विज्ञान के कार्य एवं इसके अध्ययन की संभावनाओं का जायजा लिया । 1922 में भारतीय विज्ञान शाखा के अपने अध्यक्षीय भाषण के विषय 'भारतीय पुरावनस्पति विज्ञान की वर्तमान स्थिति' पर बोलते हुए उन्होंने कहा, "पुरावनस्पति विज्ञान में मेरी अपनी रुचि के कारण यह आशा की जा सकती है कि मैं इस आकर्षक विषय की ओर अपने देशवासियों का ध्यान विशेष रूप से खींच सकूंगा । शायद इस बात में भी सफल हो सकूं कि उनमें वे बहुसंख्यक लोग अपना ध्यान मौलिक अन्वेषणों की संभावनाओं से भरपूर इस क्षेत्र की ओर दें । इस उद्देश्य को ध्यान में रखकर मैं अपने भाषणों में भारतीय पुरावनस्पति विज्ञान की वर्तमान स्थिति की समीक्षा संक्षेप में करूंगा ।"

प्रोफेसर साहनी की समझ से सबसे महत्वपूर्ण बात यह थी कि सभी पुरावनस्पति विज्ञान संबंधी अध्ययनों को उन भूवैज्ञानिक एवं भौगोलिक परिस्थितयों के संदर्भ में करना चहिए जिनके अंतर्गत वे पौधे जीवित रहे और मृत हुए । साथ ही यह कि बिना भूवैज्ञानिक पृष्ठभूमि की जानकारी और विवेचन के जीवाश्म पादपों के अध्ययन की सारभूत उपयोगिता वस्तुतया नष्ट हो जाती है ।

1924 में प्रोफेसर साहनी को भारतीय वनस्पति विज्ञान संस्था का अध्यक्ष मनोनीत किया गया । यह संस्था तीन वर्ष पूर्व मुख्य रूप से स्वयं उन्हीं के प्रयत्न और इलाहाबाद के प्रो. डब्ल्यू. डुडजन, लाहौर के डा. एस. आर. कश्यप और मद्रास के डा. रंगाचारी जैसे वनस्पतिज्ञों के सहयोग एवं प्रयास से स्थापित हुई थी । उनके अध्यक्षीय भाषण का विषय था 'संहवनी पादपों का व्यक्तिवृत्त और पुनरावर्तनी सिद्धांत ।'

सन 1866 में हैकेल ने अपने इस प्रसिद्ध सिद्धांत का प्रतिपादन किया कि अपने व्यक्तिवृत्त विकास में जीव अपनी जाति के इतिहास को दोहराता है । प्रो. साहनी ने अपने भाषण में कहा कि अपने जीवन की सभी अवस्थाओं में जीव की संरचना अपने अतीत और वर्तमान अनुभवों की झांकी प्रस्तुत करती है । अर्थात उसमें विस्तृत अर्थ में पिछले जन्मों से प्राप्त और संकीर्ण अर्थ में वर्तमान वातावरण से प्राप्त दोनों प्रकार के लक्षणों का सम्मिश्रण होता है । यह महत्व की बात है कि जब प्रतिकूल अवस्था के कारण सामान्य संतुलन बिगड़ जाता है तो अक्सर पीछे मुड़कर अतीत के अनुभव के सुदृढ़ आधार पर चलने से समायोजन हो जाता है । तथाकथित विषमताओं (स्पष्ट विरूपताओं से अलग) की जो विवेचना दी जाती है कि ये अतीत के यादगार के रूप में हैं जब वे कम या अधिक दूर के पूर्वज के सामान्य और स्थायी संगठन के अंग थे ।

इस सिद्धांत को अभी तक संपूर्ण आधार जंतु विज्ञान की ओर से मिला था और जंतुभ्रूण विज्ञान तथा जीवाश्म विज्ञान के क्षेत्र में प्रेक्षित बहुत से तथ्यों से,

उस समय इसे प्रतिपादित किया गया था जब विकासवाद मान्यता प्राप्ति के लिए संघर्ष कर रहा था । ऐसी आशा की जाती थी कि जीवविज्ञान संबंधी इतना मौलिक सिद्धांत जंतु जगत एवं वनस्पति जगत में समान रूप से लागू होगा । प्रो. साहनी ने दिखा दिया कि इस सिद्धांत की पुष्टि के लिए वनस्पति विज्ञानीय आधार भी उतना ही सबल है । वनस्पति विज्ञान की विकासीय प्रवृत्ति में इस सिद्धांत को लागू करने की दिशा में यह बात एक वृहत मार्ग चिह्न की भांति थी । अपने शोध-पत्र में उन्होंने संवहनीय क्रिप्टोगैमों, अनावृत्तबीजी पादपों के बीजों और आवृतबीजी पादपों के फूलों के कई उदाहरण दिए जिससे यह सिद्ध हुआ कि 'व्यक्तिवृत्त में जातिवृत्त को दोहराने की प्रवृत्ति का सिद्धांत पौधों में भी लागू होता है ।'

1929 में प्रो. साहनी को कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय की डाक्टर आफ साइंस (एससी. डी.) की उपाधि प्रदान की गई । इस डाक्टरीय विनिबंध के शोध-कार्य की सामग्री के लिए उन्होंने ऐसे पौधों को चुना जिनकी तुलना जीवाश्मों से की जा सकती थी । उन्होंने आकृतिविज्ञानीय विवेचनों के लिए अनुवंशीय उपागम अपनाया जो 'अभिनव आकारिकी' के नाम से जाना जाता है । (एच. हैमशा थामस. 1931)।

रीक्स म्यूजियम स्टाकहोम के प्रोफेसर टी. जी. हैले की उक्ति प्रो. साहनी के शोध कार्य के विषय में इस प्रकार है –

> "इस समय उनकी जातिवृत्तीय और संबंधत्वों की विवेचनाओं से उनकी विश्लेषणात्मक बुद्धि और सामान्य समस्याओं में रुचि पर विशद प्रकाश पड़ता है । इनसे यह भी प्रकट होता है कि बहुत शीघ्र उन्होंने जीवित तथा जीवाश्म दोनों ही प्रकार के टेरिडाफाइट और जिम्नोस्पर्म (अनावृतबीजी) की आकारिकी और शरीर का अद्‌भुत रूप से विस्तृत ज्ञान प्राप्त कर लिया था । कैम्ब्रिज में बिताए गए कुछ ही वर्षों के भीतर उन्होंने इतना अधिक उच्च कोटि का कार्य किया और अपने समय को अल्प संबद्ध और अति विषयों के अध्ययन में इस प्रकार बांटा कि कोई भी प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता ।"

बीरबल साहनी अभी कैम्ब्रिज के 'बाटनी स्कूल' में थे तभी उन्होंने शुद्ध वनस्पति विज्ञान पर अपना प्रथम लेख प्रकाशित किया, यद्यपि ये पुरावनस्पति वैज्ञानिक विषयों के दो बिल्कुल भिन्न भिन्न समूहों पर थे, यथा प्रथम लेख पुराजीवी पर्णांगों का शरीर और आकार विज्ञान एवं द्वितीय लेख भारतीय गोंडवाना शैल समूह के

जीवाश्म पादप । जीवाश्म पादपों के अध्ययन की प्रेरणा इन्हें अपने गुरु प्रोफेसर (बाद में सर) ए. सी. सेवार्ड से मिली और जीवनपर्यंत उसमें रुचि बनी रही। प्रोफेसर साहनी इस बात को स्वीकार करते थे और बहुधा प्रो. सेवार्ड के प्रति आभार प्रदर्शित करते थे । जिस प्रकार प्रो. सेवार्ड पुरावनस्पति वैज्ञानिक अन्वेषण के 'कैम्ब्रिज स्कूल' के संस्थापक थे उसी प्रकार प्रोफेसर साहनी भारत में पुरावैज्ञानिक अन्वेषण के पुरोगामी थे ।

1. पुराजीवी पर्णांगों का शरीर और आकारिकी

प्रोफेसर साहनी ने अपना अनुसंधान पुराजीवी पर्णांग जैसे, पादपों सीनोप्टेरीडीनि आई, विशेषकर बिल्कुल विलुप्त समूह जाईगोप्टेरीडेसिआई कुल पर केंद्रित किया । यद्यपि इस समूह का अध्ययन रोचक है पर अनुसंधान के विषय के रूप में असाधारण कठिनाइयों से भरपूर है क्योंकि इसकी सामग्री भली-भांति परिरक्षित किए जाने पर भी खंड खंड हो गई है । जीवाश्मी पादपों के टुकड़े प्रस्तरीभूत तने के अंश के रूप में पाए जाते हैं । अधिकतर तो पत्तियों के डंठल और रैकिश ही परिरक्षित मिलते हैं । पर्ण स्तरिका और बीजाणुधानिका शायद ही कभी परिरक्षित मिलते हैं । अतएव उपलब्ध पादप सामग्री के विभिन्न अंगों का संबंध तुलनात्मक अध्ययन द्वारा निश्चित किया जाता है पर इस प्रकार की खंडित सामग्री से पौधों के रूप-गुण का निश्चय करना बहुत कठिन होता है । शोधकार्य को तुलनात्मक अध्ययन की दिशा देने में डा. साहनी ने अग्रणी भूमिका निभाई । पुरावैज्ञानिक के रूप में जीवनवृत्त प्रारंभ करने के समय तक उन्होंने पर्णांगों के शरीर पर प्रोफेसर सेवार्ड के मार्गदर्शन में यथेष्ट अनुसंधान कार्य कर लिया था जो जीवाश्म शरीर के अध्ययन के लिए आवश्यक पूर्वापेक्षा थी ।

जाईगोप्टेरीडियन तनों में साहनी की गहरी रुचि और लगातार अन्वेषण के फलस्वरूप वर्षों तक अनेक शोध-पत्र निकलते रहे । (1919 ए; 1928 डी; 1930 ए; 1932 सी.)

इस तने की संरचना में विलक्षण लक्षणों के सम्मिश्रण के कारण नमूनों के भिन्न भिन्न वंश नाम दिए गए । यथा जाईगोप्टेरिस, एन्काइरोप्टेरिस, क्लेप्टोड्रांप्सिस, और आस्ट्रोक्लेप्सिस । प्रोफेसर हाले की उक्ति के अनुसार, "विपुल सामग्री का परीक्षण और विभिन्न टुकड़ों का संयोजन करके साहनी इस तने के शरीर का अप्रत्याशित जटिल विवरण प्रदान करने और रूप-गुण का चित्र खींचने में सफल हुए । उन्होंने पाया कि यह पौधा एक बड़ा वृक्ष पर्णांग था जिसका तना विलक्षण प्रकार का था । इसकी अपस्थानिक जड़ों और शल्क पिच्छकों की मोटी काया में

अनेक पतले पतले विशासित अक्ष दबे रहते थे, जिनके इस प्रकार साथ साथ रहने के कारण आभासी तना बन जाता है जो कुछ कुछ क्रिटेशस वंश के टेम्पुस्कीया की याद दिलाता है।"

बाद में प्रोफेसर साहनी ने आस्ट्रेलिया के इस वंश का नाम 'आस्ट्रोक्लेप्सिस' रखा। आस्ट्रोक्लेप्सिस पर इनके अन्वेषणों का बहुत प्रभाव पड़ा। इस दूसरी जाति को उन्होंने एक नवीन वंश एस्टेरोक्लीनाप्सिस से संबंधित किया (1930 ए.)। इस जाति का विचित्र इतिहास है। साइबेरिया के एक वृक्ष-पर्णांग के पतले प्रस्तरोभूत तने को आड़ा काट कर टुकड़े टुकड़े कर दिया गया था। इनमें से कुछ टुकड़े जर्मनी के अनेक संग्रहालयों में स्थान पा गए। जब प्रोफेसर साहनी ने इन टुकड़ों की खोज आरंभ की तो यह मालूम नहीं था कि वे एक ही पर्णांग के टुकड़े हैं। इनमें से दो का नामकरण विभिन्न वंशों एस्टेरोक्लीना तथा रैकोप्टेरिस की जाति के रूप में किया जा चुका था। डाक्टर साहनी ने इनकी फिर से खोज की और इन दोनों टुकड़ों को एक साथ जोड़कर यह सिद्ध कर दिया कि वे एक ही तने के टुकड़े हैं। जब उन्होंने अन्य तीन टुकड़ों को भी जोड़ कर पूरे तने का पुनः निर्माण किया तो पता चला कि इसमें अन्य रोचक लक्षणों का संयोग था। पर्णवृंत क्लेप्सीड्राप्सिस किस्म के थे, लेकिन पूर्ण अनुपथ क्रम एस्ट्रोक्लीना की तरह थे और पहले अज्ञात रंभ एस्टेरोक्लीना और एन्काइरोप्टेरिस के कुछ कुछ बीच का था।

इन पौधों पर प्रोफेसर साहनी का पहला शोध-पत्र जाईगोप्टेरीडियन पत्तों के शाखातंत्र पर गंभीर आलोचनात्मक अध्ययन के रूप में था (1918)। इस कुल की विलक्षण बात यह है कि इसकी संयुक्त पत्ती का शाखा विन्यास अनूठा होता है। अधिकांश वंशों में प्राथमिक पिछ चार कतारों में होते हैं, दो दो दोनों ओर, इस प्रकार विन्यस्त होते हैं कि मातृ-अक्ष से समकोण बने, परंतु इस विशेष प्रकार के पत्ते में तने और पत्ते दोनों के लक्षणों का सम्मिश्रण होता है।

वनस्पति विज्ञान के अदीक्षित विद्यार्थी इस बात को नगण्य ही समझें, पर वास्तविकता यह है कि डा. साहनी ने क्लेप्सीड्राप्सिस की प्रकृति एवं बंधुता के साथ जुड़े भ्रम को दूर करने में बहुत बड़ा काम किया। यह कार्य अत्यंत महत्व का था क्योंकि कोनोप्टेडीनिया के विवेचन में वंश की भूमिका महत्वपूर्ण थी। कोनोप्टेडीनिया को कुल का प्ररूप माना जाता है और इसकी व्याख्या ने इस समूह के एक बड़े अंश के वर्गीकरण के आधार को ही प्रभावित कर दिया।

1929 में अपने यूरोप के दौरे में साहनी ने जाईगोप्टेरिस प्रीमारा (कोटा) नामक एक अज्ञात जाति पर अन्वेषण करने के लिए सामग्री एकत्र की थी। जाईगोप्टेरिस प्रीमारा वंश में कई जातियां हैं और एक को छोड़कर सभी को बाद में अन्य

वंशों में स्थानांतरित कर दिया गया । जाईगोप्टेरिस प्रीमारा जाति को जर्मनी चेमनिट्ज के पर्मियन में परिरक्षित सिलिकीभूत नमूने के पर्णांग-डंठल की संरचना पर आधारित किया गया है । उस समय सामान्य धारणा यह थी कि इस वंश का केवल वही एक नमूना था । वास्तव में इसके कटे हुए हिस्से संसार के विभिन्न संग्रहालयों में मौजूद हैं । डा. साहनी अनेक देशों में गए और इस प्रस्तरीभूत डंठल के अंशों का इंग्लैड, फ्रांस और जर्मनी आदि के आधे दर्जन संग्रहालयों में अध्ययन किया और निष्कर्ष निकाला कि ये एक ही चीज के अंश हैं । बर्लिन में. उन्होंने एक और नमूना देखा जिसमें एक प्रोटोस्टेल परिरक्षित था । डा. साहनी ने इस पौधे का पुनर्निर्माण किया और इसे ऐसा वृक्ष पर्णांग पाया जिसका अक्ष बहुत पतला था और पत्तियों के डंटलों और आगतुंक जड़ों के विशाल समूह का सहारा लिए हुए था । तने, पर्ण-अनुपथ-क्रम सौर जड़ों के शरीर के अध्ययन से पता चला कि यह पूर्व वर्णित बोट्रिसियोक्सिलान किस्म का था यद्यपि पर्णवृंत का शरीर इटाप्टेरिस नामक तने की लाक्षणिक संरचना के समान था । अर्थात एक ही नमूने में तीन वंशों के प्रमुख लक्षण एक साथ विद्यमान थे । इसी प्रकार ग्रोमोप्टेरिस बालडोफी (1932 जो) पर अपने अनुसंधान कार्य में साहनी ने 1915 में पाए गए वैमनिट्ज के लोअर पर्मियन कुल के प्रस्तरी-भूत तने के बिखरे हुए टुकड़ों का अध्ययन और तुलना की । इस तने की संरचना की व्याख्या देकर और बंधुताओं का विश्लेषण करके उन्होंने पर्याप्त तर्कसंगत प्रमाण प्रस्तुत किया कि ग्रोमोप्टेरिस को बोट्रियोप्टेरिडेसी से हटाकर जाईगोप्टेरिडेसी में रखा जाए ।

प्रोफेसर साहनी अपने अध्ययन में सदैव एक निश्चित मार्ग अपनाते थे जिससे उनको सामग्री की खोज में भिन्न भिन्न देशों के विविध संग्रहालयों में जाना पड़ता था और उनके इतिहास का पता लगाना पड़ता था । प्राचीन नमूनों की खोज और अध्ययन के फलस्वरूप विभिन्न नमूनों को एक ही वंश और जाति में रखना ऐसा संभव होता था जैसे क्रमहीन पहेली में टुकड़ों को जोड़ना ।

2. गोंडवाना महाखंड

भारतीय प्रायद्वीप जहां अधिकांश ज्ञात जीवाश्म पाए गए थे, संसार के सबसे प्राचीन भूपृष्ठों में से एक है । मध्यजीवी महाकल्प में यह एक ऐसे विशाल महाद्वीप का अंग था जो दक्षिण अफ्रीका होते हुए आस्ट्रेलिया तक फैला हुआ था । इसका अर्थ यह हुआ कि यह उस विशाल क्षेत्र को जहां आजकल दक्षिण एटलांटिक और भारतीय महासागर हैं, ढके हुए था । इस काल्पनिक दक्षिणी महाद्वीप को भू-वैज्ञानिक गोंडवाना महाखंड कहते हैं । उत्तर की ओर यह एक विस्तृत महासागर से घिरा

हुआ था जो इसे वर्तमान उत्तरी अमेरिका और यूरेशिया को जोड़ने वाले विशाल उत्तरी भूखंड से अलग करता था । तृतीय महाकल्प में उथल-पुथल मचाने वाली पृथ्वी की विकराल हलचलों ने इस भूखंड को हिला दिया, जिसके फलस्वरूप गोंडवाना महाखंड टूट गया । इसका अधिकांश भाग समुद्र के गर्भ में समा गया, केवल अलग-थलग प्रायद्वीप रह गए जो वर्तमान काल के दक्षिणी अमेरिका, अफ्रीका, भारत और मलाया के प्रायद्वीप और आस्ट्रेलिया महाद्वीप समेत आस्ट्रेलिया द्वीप समूह हैं।

जब कार्बनी कल्प समाप्त होने को था तब दक्षिणी गोलार्थ पर विस्तृत हिमनदन से पुरानी वनस्पति का नाश हो गया । प्रभावित क्षेत्र अति विशाल रहा होगा जिसकी कल्पना इस बात से की जा सकती है कि यूरोप के ऊपरी कार्बनी के अनुरूप स्तरिक माप के स्तर पर आस्ट्रेलिया, भारत, मलाया, दक्षिण अफ्रीका, यहां तक कि दक्षिण अमेरिका तक दूर दराज के देशों में समान लक्षण वाला हिमनदीय निक्षेप मिलता है । जीवाश्मों से प्राप्त सभी प्रमाणों से अपेक्षाकृत शीतोष्ण जलवायु का संकेत मिलता है और ऐसा अनुमान किया जाता है कि बाढ़ के चरणों में जलवायु इतनी गर्म हो गई होगी कि प्रभूत वनस्पति उग गई होगी जिससे कोयले की मोटी पर्तें बनीं । इस बात के काफी भूवैज्ञानिक प्रमाण हैं कि पृथ्वी के इतिहास के इस काल में टेथिस नामक एक विशाल भूमध्य सागर उत्तरी और दक्षिणी महाद्वीपों को एक-दूसरे से अलग करता था । इस दक्षिणी महाद्वीप का भारत एक अभिन्न अंग था जिसका उत्तरी समुद्र तट स्थूल रूप से वर्तमान हिमालय पर्वतमाला की उपनति रेखा के साथ साथ चलता था । उपलब्ध भूवैज्ञानिक दलों और पुरावनस्पतिक तथ्यों से ऐसा विश्वास किया जा सकता है कि भारत ऊपरी कार्बनी कल्प में या कम से कम निम्न पर्मियन के पूर्व बर्फ से ढका था । यहां तक कि प्रोफेसर ए.सी.सेवार्ड ने भी जो जलवायुकायि मान में जीवाश्मी पौधों के प्रमाण के संबंध में अत्यंत सावधान थे, सहमति व्यक्त की कि "गोंडवाना महाखंड की जलवायु निस्संदेह पर्मियन काल में अपेक्षाकृत ठंडी थी और उत्तरी महाद्वीपों की अपेक्षा बहुत कम सुखद थी ।"

जीवाश्म पादपों, विशेषकर गोंडवाना से मिलने वालों में प्रोफेसर साहनी की रुचि उनके कैम्ब्रिज के विद्यार्थी जीवन से ही जाग्रत हो गई थी । भारतीय भूवैज्ञानिक सर्वेक्षण द्वारा कैम्ब्रिज भेजे गए जीवाश्म पादपों के नमूनों का अध्ययन उनके और प्रोफेसर सेवार्ड द्वारा किया गया अन्वेषण संयुक्त प्रकाशन के रूप में इस शीर्षक से प्रकाशित हुआ, "भारतीय गोंडवाना पादप संशोधन 1920 बी. ।" संशोधन अंशतः आकारिकी और शरीर संबंधी मामलों की नई जानकारी और अंशतः निचले और ऊपरी गोंडवाना के उपत्वची संरचनाओं के अध्ययन पर आधारित था । निचले गोंडवाना के पुराजीवी पेड़-पौधों के अध्ययन से उत्तरी और दक्षिणी पेड़-पौधों में

सादृश्य स्थापित किया गया और एक ऐसी जाति की खोज से, जो टोरेया के समान शंकुवृक्ष अभिनिर्धारित हुई और जिसे वंश नाम टोरेयाइट्स दिया गया, यह प्रकट हुआ कि महत्वपूर्ण उत्तरी समूह टैक्सेलीज का जुरेसिक कल्प में गोंडवाना महाखंड तक विस्तार हुआ था ।

अपने दूसरे महत्वपूर्ण प्रकाशन 'भारतीय जीवाश्म पादपों का संशोधन' के विषय के लिए उन्होंने कोनीफेरेलीज को चुना । यह दो भागों में प्रकाशित हुआ : प्रथम पर्पटाश्म एवं मुद्राश्म विषयक (1928 सी.) और द्वितीय अश्मीभूताश्म विषयक था (1931) अधिकांश जीवाश्म गोंडवाना शैल समूह से पाए गए थे और कुछ दक्कन के इंटराट्रेपीय संस्तर से । अब इन्हें सामान्यतया आदि नूतन युग में स्थान दिया जाता है । जीवाश्म पादपों के संशोधन और पुनरीक्षण के अंतर्गत उनका वर्णन, निदर्शचित्र, बिखरी हुई सामग्री के पाने और उन्हें यथोचित क्रम में रखने का विवेचन तथा उनके स्तरिक और भौगोलिक वितरण का सारांश सम्मिलित था । प्रोफेसर साहनी के 'जीवाश्म पेड़-पौधों का संशोधन' का रोचक निष्कर्ष के रूप में यूरोप के शंकुवृक्षों और भारत के शंकुवृक्षों का अंतर तथा दक्षिण और उत्तर भारत के जीवाश्म पादपों का अंतर पाया गया । उदाहरण के लिए भारतीय प्रायद्वीप से प्राप्त सामग्री में प्ररूपी उत्तर भारतीय कुलों पाइनेसिआई एवं प्रेसैसिआई का एक भी उदाहरण नहीं था और न ही टैक्सोडियेसीआई वंश का ।

प्रोफेसर साहनी ने गोंडवाना महाद्वीप के विभिन्न भागों के जीवाश्मी पेड़-पौधों का तुलनात्मक अध्ययन किया और खोज से प्राप्त विभिन्न जीवाश्म पादपों को सूची-बद्ध किया । इस कार्य का उद्देश्य यह मालूम करना था कि पुरावनस्पति वैज्ञानिक प्रमाणों से वेगनर की महाद्वीपीय विस्थापना की परिकल्पना की कहां तक पुष्टि होती है ।

3. महाद्वीपीय विस्थापन का सिद्धांत

जिन वैज्ञानिकों के मन में इस बात की धारणा उपजी थी कि पृथ्वी के विभिन्न महाद्वीप पैंगी नामक एक संयुक्त भूखंड के टूटने से बने हैं, उनमें से एक वेगनर भी था । इस धारणा का ज्वलंत प्रमाण दक्षिणी अमेरिका की पूर्वी तट रेखा और अफ्रीका की पश्चिमी तट रेखा की समानता है । विशाल सागर विलगित उन दोनों देशों में कुछ ऐसे जंतु और पौधे हैं जो एक समान हैं और इस समानता का कारण यह प्रतीत होता है कि वे एक ही समय और एक ही भूखंड के साथ साथ पैदा हुए और बढ़े । यह भूखंड बाद में टूटकर टुकड़ों में बंट गया । उत्तर पुराजीवी महाकल्प के जीवाश्म पादपों के वितरण से इन महाद्वीपों के किसी समय

आपस में जुड़े होने के सिद्धांत की दृढ़ पुष्टि होती है ।

सन् 1935 में प्रोफेसर साहनी ने लिखा कि वे इस सिद्धांत से सहमत थे कि किसी समय विस्तृत महासागरों द्वारा एक-दूसरे से अलग किए गए महाद्वीप अन्य स्थानों पर बड़े पैमाने पर हुए विस्थापनों से एक-दूसरे के सान्निध्य में आ गए होंगे । भारत में ग्लोसोप्टेरिस वनस्पतिजात का विस्तार संभवतया ऊपरी कार्बन कल्प से ट्रायस तक रहा । इसकी निचली सीमा सर्वप्रथम टैल्चीर हिमनद संस्तरों और निर्धार्य काल के समुद्री जीवाश्ममय संस्तरों सहित पादप उगे गोंडवाना, विशेषकर कश्मीर और लवण पर्वतमाला के संबंधों में दिखाई पड़ती है ।

पुरावनस्पति विज्ञान में प्रोफेसर साहनी के बहुमूल्य योगदानों में उनका ग्लोसोप्टेरिस का वर्णन भी है । इस प्रकार के पौधों के पत्तों की जानकारी लगभग एक शताब्दी पहले से थी । ये पर्णांग पत्र समझे जाते थे। डाक्टर साहनी की खोज से ज्ञात हुआ कि इस पौधे के पत्तों के लक्षण केवल बीजधारी पौधों के पत्तों में पाए जाते हैं । ग्लोसोप्टेरिस वनस्पतिजात के और समकालीन उत्तरी वनस्पतिजात एवं हिमयुगीन गोंडवाना के संबंधों की समस्याओं में उनकी बड़ी रुचि थी । उन्होंने भारत के जीवाश्म पेड़-पौधों और दक्षिणी गोलार्ध के शैलों के पेड़-पौधों को सह-संबंधित करने और इन सह-संबंधों के भौगोलिक और भूवैज्ञानिक निहितार्थों की जानकारी के लिए बहुत अध्ययन किया । इस अध्ययन से प्राप्त प्रमाणों द्वारा निष्कर्ष निकलता था कि अभिलक्षणिक पादप ग्लोसोप्टेरिस ठंडी शीतोष्ण जलवायु में उगता था और भारत तथा दक्षिणी अफ्रीका, आस्ट्रेलिया, दक्षिणी अमेरिका और अंटार्कटिका में इसकी विलक्षण प्रचुरता थी । प्रोफेसर हाले द्वारा चीन में पाए गए एक वृहत वनस्पतिजात, जाईगैन्टोप्टेरिस से समस्या और उलझ गई, क्योंकि इस खोज का अर्थ था कि यह पादप आर्द्र उष्णकटिबंधीय जलवायु में उगा हुआ था और यह वनस्पतिजात दक्षिण की ओर मध्य सुमात्रा तक फैला हुआ था ।

कुछ ही दिनों बाद प्रोफेसर जलेस्की ने खोज द्वारा पाया कि अंगारा महाभूखंड वनस्पतिजात दक्षिण की ओर कश्मीर से सैकड़ों मील दूर तक फैला हुआ था जबकि कश्मीर ही ग्लोसोप्टेरिस की उत्तरी सीमा थी । साहनी के मत से इन सब बातों की व्याख्या केवल महाद्वीपीय विस्थापन की परिकल्पना से की जा सकती थी । उनके विचार से भारतीय प्रायद्वीप कभी प्राचीन महाद्वीपीय महाखंड पैंगी का भाग था जो विस्थापित होकर मुख्य एशियाई महाद्वीप के रचक भूखंड के अति समीप आ गया था ।

प्रोफेसर साहनी के अनुसार यदि भारत और आस्ट्रेलिया का ग्लोसोप्टेरिस वनस्पतिजात चीनी-सुमात्रा क्षेत्र से भिन्न जलवायु में पनपा तब इस निष्कर्ष से छुटकारा नहीं कि प्रारंभ में ये दोनों भूभाग एक-दूसरे से बहुत अलग टेथिस सागर

के उत्तर और दक्षिण में स्थित थे और उसके बाद एक-दूसरे की ओर विस्थापित होते गये हैं । उन्होंने निष्कर्ष निकाला कि अन्य स्थानों पर बड़े पैमाने में विस्थापन होने के फलस्वरूप कभी विस्तृत सागरों से विलगित महाद्वीप एक-दूसरे के सान्निध्य में आ गए । उन्होंने यह भी कहा कि उत्तर-पूर्वी असम की पर्वत श्रेणियों और मलय द्वीप समूह तक हिमालय अक्ष के दक्षिणी विस्तार की अनुदैर्घ्य दिशा का कोण बड़ा तीक्ष्ण था । "यदि कुछ भूवैज्ञानिकों के विश्वास के अनुसार हिमालय अब भी ऊपर उठ रहा है तब यह निष्कर्ष सहज ही निकाला जा सकता है कि उत्तरी और दक्षिणी महाद्वीपीय महाखंड एक-दूसरे की ओर बढ़ रहे हैं । और यदि हिमालय के अक्ष में कश्मीर और असम की धूरियों पर घूर्णन के कारण घुटने के समान तीक्ष्ण मोड़ बन गए हैं, जैसा कि मत व्यक्त किया गया है, तब कतिपय वर्षों तक यथावत देशांतर अभिलेख रखने पर पता चल जाएगा कि बलुचिस्तान तथा शान पठारों पर स्थित बिंदुओं के बीच की दूरी अब भी कम होती जा रही है ।" उनका निष्कर्ष था कि "यद्यपि सब मिलकर भारत एवं आस्ट्रेलिया के ग्लोसोप्टेरिस वनस्पतिजात और चीन तथा सुमात्रा के जाईगैटोप्टेरिस वनस्पतिजात भिन्न भिन्न थे, पर ऐसा प्रतीत होता था कि पर्मोट्राइऐसिक काल में टेथिस के आर पार भारत तथा सुदूरपूर्व के बीच कुछ न कुछ अन्योन्य संसर्ग संभव था । यही नहीं, गोंडवाना और अंगोरा महाद्वीपों में भी परस्पर संसर्ग रहने की संभावना थी । यह सुदूरपूर्व और अंगोरा के वनस्पतिजात में इक्के-दुक्के "गोंडवाना तत्वों के पाए जाने से जाहिर होता है ।"

जहां तक निचले गोंडवाना वनस्पतिजात में यूरोपीय तत्वों के होने का प्रश्न है, उनका विश्वास था कुछ जातियां गोंडवाना महाखंड के सुरक्षित स्थानों में हिमनदन के बाद भी जीवित बच गईं । लगभग जिस समय प्रोफेसर साहनी निचले गोंडवाना के पादपों का अध्ययन कर रहे थे, उसी समय साइबेरिया, चीन, कोरिया और सुमात्रा के समकालीन वनस्पतिजात पर बहुत-सा अनुसंधान कार्य किया जा रहा था । साहनी का ध्यान दो समरूपी समस्याओं की ओर आकर्षित हुआ; निचले गोंडवाना के वनस्पतिजात के संबंध और इस वनस्पतिजात का चीन और सुमात्रा के वनस्पतिजातों से संबंध ।

महाद्वीपीय विस्थापन पर प्रोफेसर साहनी के लेख के निम्न उद्धरण से स्थिति बिल्कुल स्पष्ट हो जाती है, "यह वनस्पतिजात अंतर इतना विलक्षण है कि स्वयं इसी से यह संदेह उत्पन्न होता है कि दोनों वनस्पतिजात, जिनमें से एक साररूप से उत्तरी और दूसरा दक्षिणी था, अवश्य ही भिन्न भिन्न जलवायु में रहे होंगे। वास्तव में, वर्तमान धारणा यह है कि संभवतया ग्लोसोप्टेरिस वनस्पतिजात हिमनदन से. तुरंत बाहर निकले महाद्वीप पर शीतोष्ण जलवायु में विकसित हुआ

था और जाईगैन्टोप्टेरिस वनस्पतिजात कोयले के संस्तर की जलवायु के सदृश अपेक्षाकृत गर्म जलवायु में विकसित हुआ था ।"

4. दक्कन की अंतराट्रेपी श्रेणी

मध्यजीवी पादपों पर प्रोफेसर साहनी का कार्य मुख्यरूप से जुरैसिक सामग्री विशेषकर भारत के निचले क्रिटेशस वनस्पतिजात से संबंधित था । इस संबंध में उनका सबसे महत्वपूर्ण योगदान दक्कन के अंतराट्रेपी श्रेणी के सिलिकीभूत वनस्पतिजात पर अनुसंधान था ।

अंतराट्रेपी संस्तर अवसादी शैलों की परतें हैं जो ट्रैप शैल नामक सिलिकीभूत भूखंडों के बीच में पाए जाते हैं । ये ट्रैप शैल पिघले हुए लावा से बने थे अतएव इनमें जैविक अवशेष नहीं पाये जाते हैं । ट्रैप शैलों की परतों के बीच में ऐसे संस्तर होते हैं, जहां जैविक उपज हुई होगी और जो अपना विगत जीवन छोड़ गई होंगी, क्योंकि इन्हीं अंतराट्रेपी निक्षेपों में जीवाश्म पादप तथा कतिपय जंतु पाए जाते हैं । दक्कन के अंतराट्रेपी पादप-जीवाश्म भारत में अश्मीभूत अवशेषों के सर्वश्रेष्ठ उदाहरण हैं । दक्कन ट्रेपों के साथ अंतरासंस्तरित सिलिकाम अलवणजल के अवसादों में विविध प्रकार के पादप अवशेष प्रचुरता से पाए जाते हैं और इतनी भलीभांति परिरक्षित होते हैं कि इनकी सूक्ष्म से सूक्ष्म संरचना का निरीक्षण किया जा सकता है । इस परिघटना की व्याख्या प्रोफेसर साहनी ने इस प्रकार की; यदि ज्वालामुखी की राख निकट स्थित झील या नदी में गिरे तो यह एक प्रकार का ज्वालामुखी अवसाद बन जाता है जिसमें वहां रहने वाले जीव-जंतु शीघ्र ही चिरस्थायी कब्र में समा जाते हैं । इन पादपों और जंतुओं की काया बिना हानि के परिरक्षित रहती है, कण के स्थान पर कण, कोश के स्थान पर कोश, पादप ऊतकों का स्थान राख से अथवा झील को ढकने वाले किसी लावा से निकली सिलिका ले लेती है । अंत में, सख्त अविनाशी सिलिका से मूल की प्रतिकृति बन जाती है जिसे अश्मी भवन कहते हैं । दोनों ही क्षेत्रों में परिरक्षण की श्रेष्ठ दशा का कारण यह है कि संभवतया वे एकाएक ज्वालामुखी की राख की वर्षा या तरल लावा से ढक गए जिससे उनका जीवन अवशेष समुद्रित हो गया और अश्मीभूत होने के पूर्व कहीं दूर स्थानांतरित होने से बच गया । सबसे सुंदर परिरक्षित पादप अवशेष छिन्दवाड़ा जिले में पाया जाने वाला आजोला अंतराट्रेपी जाति का है जो एक जल-पादप है । चर्ट झील की सिलिकीभूत कीचड़ है जिसमें कभी कभी रुद्धजल पर निक्षिप्त ज्वालामुखी की राख मिली होती है । आजोला की यह दक्कनी जाति, जो तृतीय कल्प की है, 6-7 करोड़ वर्ष पहले उगी हुई थी। यह किसी वंश के जीवन-वृत की पुनरोत्पादन की प्रावस्था में अति विशिष्ट

आचरण के युगों की प्रगति के साथ स्थायी रहने का भव्य उदाहरण है ।

प्रोफेसर साहनी ने जीवाश्म पादपों के अपने अध्ययन का विस्तार करके इस सामग्री की आकारिकी का अध्ययन किया । 1925 में भारतीय भूवैज्ञानिक सर्वेक्षण के निदेशक द्वारा प्रोफेसर साहनी के पास पादप उगे चर्टों के खंड भेजे गए, जिनमें से एक में प्रोफेसर साहनी को आवृतबीजियों (आधुनिक पुष्पी पादपों) के अश्मीभूत अवशेष मिले । अतएव वे इनके विशेष महत्व को तुरंत समझ गए क्योंकि इनकी तुलना यूरोप के तृतीय कल्प के समान जीवाश्मों की समृद्ध कार्बनीभूत सामग्री से की जा सकती है जिसमें आधुनिक भारतीय-मलय तत्वों की प्रतिशतता बहुत है । अंतराट्रेपी संस्तरों के एक बीजपत्तियों (एक ही पत्ते वाले बीज जिन्हें कॉटीलेडान कहा जाता है) में कुछ बड़ी रोचक सामग्री होती है । अतएव वहां पाए जाने वाले अश्मीभूत ताड़पत्रों को साहनी ने अपने विस्तृत अध्ययन में सम्मिलित कर लिया ! अंतराट्रेपी अनावृतबीजियों (पादपों का एक समूह जिन्हें साधारणतया चीड़, फर, स्प्रूस, जूनिपर आदि नामों से पुकारा जाता है) पर साहनी का कार्य मुख्य रूप से शंकुवृक्षों के सिलिकीभूत शंकुओं पर था जिनमें सर्वाधिक महत्वपूर्ण दो वंशों, इन्डोस्टोबस और ढेक्लियोस्टोबस होते हैं । साहनी द्वारा पाए गए ये दोनों वंश विशेष रूप से रोचक हैं क्योंकि इनमें एबिटीनियन और पोडोकारपेसिआई दोनों के लक्षणों का सम्मिश्रण होता है । परंतु उन्होंने उनके जातिवृत्तीय संबंधों के प्रश्न को खुला छोड़ दिया ।

अंतराट्रेपी वनस्पतिजात में प्रोफेसर साहनी की रुचि केवल पौधों की संरचना एवं बंधुता तक ही सीमित नहीं रहती थी वरन बहुधा उनकी पारिस्थितिकी, भौगोलिक संबंधों और वनस्पतिजात के भूवैज्ञानिक काल आदि विषयों में भी रहती थी । उनके अनुसंधान का यह पक्ष इस दृष्टि से रोचक था कि उस काल में किस किस्म का वनस्पतिजात होता था । साथ ही यह भूवैज्ञानिक दृष्टि से भी महत्वपूर्ण था । तब भी प्रोफेसर साहनी इतने अधिक सतर्क थे कि उन्होंने अलग अलग जीवाश्मों की तुलना आधुनिक किस्मों के पौधों से करके भूवैज्ञानिक अतीत की पारिस्थितिकी दशा के बारे में कोई निष्कर्ष नहीं निकाला । हां, पहले पाए गए अनेक पुरावैज्ञानिक तथ्यों से यह निष्कर्ष अवश्य निकाला कि दक्कन का उत्तरी भाग, विशेषकर नागपुर छिन्दवाड़ा के आसपास का हिस्सा, अंतराट्रेपी काल के समुद्र तट से अधिक दूर नहीं था । आधुनिक ज्वारनदमुखी ताड नीपाफ्रूटिकेन्स वर्तमान मोहगांव कलां क्षेत्र में उगा हुआ था, क्योंकि उस वंश का एक जीवाश्म फल वहां मिला । उसी भौगोलिक क्षेत्र से एक और जीवाश्म जो आजकल के नारियल का निकट संबंधी था, पाया गया था । प्रोफेसर साहनी ने अनेक अवसरों पर दक्कन के अंतराट्रेपी संस्तरों के वनस्पतिजात और आदि नूतन लंदन क्ले के वनस्पतिजात

की निकट समानता की ओर ध्यान आकर्षित किया, क्योंकि अश्मीभूत फल ही लंदन क्ले के जीवाश्मों में सबसे अधिक पाए जाते हैं । इन लवण जलीय जीवाश्म के अभिलेख से पुरातन टेथिस सागर की तटरेखा का स्थूल परिचय मिलता है । यह सागर छिन्दवाड़ा के निकट दक्कन के उत्तरी छोर को स्पर्श करता है । उनके अनुसंधानों से यह स्पष्ट रूप से प्रकट होता है कि दक्कन के अंतराट्रेपी काल मे भारतीय प्रायद्वीप की वनस्पति का सामान्य लक्षण वही था, जो प्रारंभिक तृतीय महाकल्प में पश्चिमी यूरोप की वनस्पति का था ।

1940 में, मद्रास में हुई भारतीय विज्ञान कांग्रेस की 27 वीं सभा के अपने अध्यक्षीय भाषण में प्रोफेसर साहनी ने भारत की आद्यकालीन दृश्यभूमि का उपलब्ध भूवैज्ञानिक पुरावनस्पति वैज्ञानिक और जलवायवीय प्रमाणों के आधार पर इस प्रकार वर्णन किया :

'....यदि मेरी बात कभी कभी परियों की कहानी जैसी लगे तब भी आप शांति से सुनिएगा । काल के इतने लंबे व्यवधान के बाद समय के संसार की केवल धूमिल रूप-रेखा ही दिखाई पड़ सकती है और दिव्य-दर्शन के वर्णन के लिए विज्ञान की यथातथ्य भाषा अनुपयुक्त होती है ।

अधिकारिक व्यक्तियों के मतानुसार तृतीय महाकल्प का प्रभात 6 और 7 करोड़ वर्ष पूर्व के बीच हुआ था । यह वास्तविक अर्थों में नए कल्प का उद्‌भव है । पृथ्वी के गर्भ से उठती हुई भीषण शक्तियों से पहले ही पपड़ी में बड़े बड़े 'रिफट' बन गए हैं । ये रिफट महासागरों में से मुंह बाये हुए झांक रहे हैं । पपड़ी की छोटी छोटी दरारों में से गली हुई चट्टानें बार बार लावा के साथ निकल रही हैं और स्थल और जल के लाखों वर्ग मील पर फैल जाती हैं । ज्वालामुखी की राख की वर्षा से विशाल क्षेत्र रेगिस्तान बन रहे हैं । पृथ्वी का पृष्ठ जल्दी जल्दी परिवर्तित हो रहा है । एक नई किस्म की दृश्य-भूमि का विकास हो रहा है । जिसमें ऊंचे ऊंचे ज्वालामुखीय पठार प्रधान रूप से दिखाई पड़ रहे हैं । पृथ्वी का चेहरा बड़ी जल्दी जल्दी बदल रहा है । वह और आधुनिक वनस्पतियों का परिधान करती है । भूमि पर, नदियों और झीलों में ऐसे जीव जंतु रहने लगते हैं जिनसे हमारा अधिक परिचय है । मानव का चिह्न अभी नहीं दृष्टिगोचर होता है पर उसके पदार्पण की उचित पृष्ठभूमि तैयार हो रही है क्योंकि इस संक्रांति काल में सागर के गर्भ से भीमकाय पर्वतों के बाहर निकलने का पूर्वाभास मिलता है । भारत के उत्तर में कहीं पृथ्वी का उद्वेलित पेट मानव का पालना बनने वाला है !

ऐसा ही था यह आदि नूतन युग; यह वास्तव में नवजात का शैशव था ।

भारतीय प्रायद्वीप का सबसे अधिक भाग ऐसी चट्टानों से बना है जो गली

हुई अवस्था से ठोस अवस्था में आई हैं । ये चट्टानें जिन आग्नेय क्रियाओं की ओर इंगित करती हैं वे विशिष्ट विशिष्ट युगों में हुई थीं और इनके बीच की कालावधि का ठीक ठीक अनुमान लगाना अभी संभव नहीं है ।

इस प्रायद्वीप के पूर्वी और दक्षिणी भाग संसार के प्राचीनतम भूपृष्ठों में से हैं । इसके कुछ भाग तो हमारे ग्रह की उस आद्यकालिक पपड़ी के अंश हैं जब यह पहले-पहल ठंडी होकर गैसीय अथवा द्रव पिंड से संघनित होकर ठोस बनी थी ।

समय समय पर अंदर से अन्य गली हुई चट्टानें इस पपड़ी को फाड़कर निकलीं और दरारों में ऐसे जम गईं जैसे पुराने शैलों के बीच में चादरें अथवा दीवारें उठ गई हों । पृथ्वी जब नई नई बनी थी तब उसमें हुए प्राथमिक व्याक्षोभों का अभिलेख उन जटिल वलनों में मिलता है जो पुरातन शैलों में पड़ गए हैं । पृथ्वी की हलचल से विस्तृत क्षेत्रों की मूल चट्टानें टूट कर इतनी बुरी तरह पिस गई हैं कि अब यह कहना संभव नहीं कि किस प्रकार ये बनी थीं । इसी प्रकार की आदिकालिक दृश्यभूमि पर, बहुत दिनों पश्चात, जीव की पहले-पहल उत्पत्ति हुई थी और इसी पर पृथ्वी की संस्तरित पपड़ी स्थापित हुई थी । समय बीतने के साथ इस पपड़ी का अधिकांश भाग विनष्ट को गया है और पुरानी सतह नंगी हो गई है । परंतु संस्तरों के कुछ अंश अब भी बचे हुए हैं । ये महानदी, गोदावरी, और नर्मदा की पुरानी द्रोणियों में कुंड की भांति के गहरे गर्तों में और ट्रिचनापल्ली से कटक तक पूर्वी तट के किनारे किनारे बहिवर्ती खंडों की एक माला में सुरक्षित हैं । ये निक्षेप मुख्यतया झीलों और नदियों में पड़े थे पर आंशिक रूप से उस उथले समुद्र में भी गिरे थे जो उत्तर और पूर्व से भूमि को आप्लावित करता था । इन स्तरों में जो बहुमूल्य प्रमाण संचित हैं उनसे जलवायु में हुए बड़े बड़े परिवर्तनों और प्राणिजात वनस्पतिजात के उस लंबे अनुक्रम का पता चला है जो उस विशाल दक्षिणी महाद्वीप पर हुए थे जिसका भारत कभी अभिन्न अंग था । जहां तक हमें ज्ञात है दक्कन का प्लेटो, जब से मूल पपड़ी का निर्माण हुआ था सिवाय समुद्र के इस अस्थायी आक्रमणों के, भूखंड के ही रूप में रहा है ।

उद्गम काल के पूर्व के दक्कन के बारे में चर्चा करते हुए वे कहते हैं, "निचली नर्मदा के क्षेत्र में भी उत्तरी सागर ने भूमि को आप्लावित किया है, परंतु यहां का प्राणिजात बहुत भिन्न प्रकार का है क्योंकि प्लेटो के अवरोध द्वारा यह दक्खिनी सागर से कटा हुआ है । उत्तरी प्राणिजात की अधिक समानता यूरोपीय प्राणिजात से है...वास्तव में एक ही सागर एक ओर यूरोप में और दूसरी ओर तिब्बत तथा चीन तक फैला हुआ है ।

"पर हमारे पश्चिमी तट का इस काल में कोई चिह्न नहीं है । या तो भारत अब तक अफ्रीका से अलग नहीं हुआ था अथवा अधिक संभव है कि यह पश्चिम की ओर स्थित भूमि का एक बड़ा-सा खंड अपने साथ लेता आया । इस क्षेत्र को डुबो देने से भारत और अफ्रीका के बीच का अंतर बढ़कर अरब सागर की चौड़ाई में मिल जाएगा । हमारा त्रिभुजाकार द्वीप के समान, विशाल दक्कन बिना लंगर रैफ्ट की तरह उत्तर पूर्व की ओर अपनी यात्रा जारी रखेगा ।

"स्थल निवासियों में डाइनासोर मध्य प्रदेश के वनों में बहुतायत से पाए जाते हैं । उनमें से अनेक ऐसे हैं जो विशेषरूप से भारत में ही पाई जाने वाली किस्मों के हैं, पर यह बड़ा विचित्र है कि उनके सबसे निकट संबंधी मैडागास्कर और दक्षिण अमेरिका के डाइनासोर हैं । अतएव कोई न कोई स्थलीय संबंध तब भी रहा होगा जिससे सरीसृप एक-दूसरे के स्थान पर आते-जाते रहे होंगे । परंतु उनकी प्रजाति शीघ्रतापूर्वक उनके साथ मिटती जा रही है । भारतीय डाइनासोर के अंतिम सदस्य जबलपुर के निकट लम्हेटाघाट के स्तर में और वर्धा के दक्षिण पूर्व बरोरा के निकट पिसडुरा गांव में दबे पड़े हैं ।"

5. कश्मीर की करेवा श्रेणी

करेवा के कश्मीरी नाम से न्यूनाधिक चपटी वैदिका या पठार को जाना जाता है । यह घाटी के विस्तृत भाग में, विशेषकर झेलम नदी के बाएं किनारे फैला हुआ है ।

काफी पहले 1936 में प्रोफेसर साहनी ने कश्मीर के करेवा निक्षेपों में बहुत से ऐसे पुरावनस्पति वैज्ञानिक प्रमाणों को दिखाया था जो उनके हिमालय के प्रीस्टोसीन प्रोत्थान के सिद्धांत की पुष्टि करते थे । हिमालय की चोटी पर समुद्री प्राणियों के जीवाश्मी अवशेषों की उपस्थिति और कश्मीरी पर्वतों के उन्नत ढलानों पर झीलों के निक्षेपों मे जलीय पादपों और प्राणियों के अवशेषों के पाए जाने से साधारण लोगों ने यह गलत धारणा बना ली थी कि कभी महासागर में पर्वतों की चोटियां डूबी हुई थीं और झीलें ऊंचे स्थानों पर स्थित थीं । जलीय पादपों और प्राणियों के जीवाश्म अवशेष जिनमें इन पादपों एवं प्राणियों की आधुनिक जातियां भी सम्मिलित हैं, झीलों के निक्षेप में पीर पंजाल श्रेणी की ढलानों पर इतनी ऊंचाई पर पाए जाते हैं कि वहां ये जातियां आजकल नहीं रह सकतीं । प्रोफेसर साहनी ने इन उच्च स्तरीय निक्षेपों के महत्व की व्याख्या, जिन्हें भूवैज्ञानिक करेवा श्रेणी के नाम से जानते हैं, इस प्रकार की, "इसमें संदेह नहीं कि गुलमर्ग (8,800 फुट) के निकट स्थित जीवाश्मधारी अवसाद पीर पंजाल के उत्तर पश्चिमी ढलानों पर

पाई जाने वाली मृत्तिका, रेत और बजरी के अन्य अवसादों की भांति किसी झील के तल में स्थापित थे, जैसा कि डा. स्टेवार्ट का मत है । पर जिस उच्च तुंगता पर इसका तल अब दिखाई पड़ता है वहां वह झील कभी थी ही नहीं । यह आश्चर्यजनक अवश्य प्रतीत होगा, पर यह झील कई हजार फुट नीचे, उसी स्तर पर स्थित रही होगी जिस पर कश्मीर की मुख्य घाटी है । जब यह पादप और प्राणी जिनके जीवाश्म 11,000 फुट या उससे अधिक की ऊंचाई पर अब मिलते हैं, इस झील या इसके इर्द-गिर्द प्रचुरता में थे, तभी से ये अवसाद अपनी मूल क्षैतिज स्थिति से ऊपर उठ गए हैं और पीर पंजाल के अद्यतन उत्थान (भूवैज्ञानिक शब्दों में) के साथ कम से कम 5,000 फुट ऊपर फेंक दिए गए हैं ।"

करेवा श्रेणी की 10,600 फुट की ऊंचाई से ऊपर जो वनस्पतिजात पाया जाता है, उसका अभिलक्षण 4000-6000 फुट की ऊंचाई पर उगने वाले उपोष्ण वर्षा प्रचुर वन में पाए जाने वाले वनस्पतिजात के समान है । भारत में असाधारण ऊंचाई पर गर्म वनस्पतिजात विद्यमान रहा होगा इसका स्पष्टीकरण देना कठिन है । प्रोफेसर फ्रेडरिक ई. ज्युनेट के अनसुार, "इसका स्पर्ष्टीकरण दो प्रकार से दिया जा सकता है । या तो करेवा काल में जलवायु ऐसी थी कि विचाराधीन वनस्पतिजात आजकल की अपेक्षा 5,000 फुट अधिक की ऊंचाई पर उग सकता था अथवा जिन संस्तरों में ये वनस्पतिजात हैं, वे उनके उगने के बाद पृथ्वी की हलचल के कारण ऊपर उठ गए ।" करेवा संस्तरों के निर्माण काल में जलवायु में परिवर्तन हुए, यह संभव है, क्योंकि इस श्रेणी में अनुवर्षस्तरी निक्षेप पाए जाते हैं । इनसे हिमनदीय प्रावस्था का संकेत मिलता है । साहनी के मतानुसार, "हिमनदीय प्रावस्था मान लेने पर असाधारण न्यून ऊंचाई पर पाए जाने वाले ठंडे जलवायु के वनस्पतिजात का स्पष्टीकरण आसानी से दिया जा सकता है ।" साहनी तथा अन्य लोगों के अनुसार यह उत्थान केवल पीर पंजाल श्रेणी के निर्माण से ही संबंधित हो सकती है । पीर पंजाल श्रेणी का अद्यतन उत्थान उस विशाल उत्थान का एक छोटा-सा अंश है जिसने एक ओर मुख्य हिमालय पर्वतमाला को प्रभावित किया है और दूसरी ओर पोटवार प्लेटो को (अब पाकिस्तान में स्थित रावलपिंडी और झेलम के बीच) इस उत्थान के पहले ही संसार के इस भाग में मानव रहने लगा था ।

प्रोफेसर साहनी के अनुसार "...अनेक स्थानों पर करेवा संस्तर एक पुरातन शैल-तल पर आधारित है, जिस पर कभी हिमनदों द्वारा खरोंचें और प्रमार्जित किए जाने के चिह्नों को पहचानने में गलती नहीं हो सकती । ये चिह्न हिमनदों द्वारा शैल खंडों के हिमोढ़ पूरित बर्फ के अतिशय भार को अपने साथ खींच कर ले जाने से बने हैं । अन्य स्थानों पर जीवाश्ममय मृत्तिका मिलती है, जिसमें शीतोष्ण जलवायु के जीवन के प्रमाण मिलते हैं । उदाहरणार्थ, वर्तमान अलवण जल में

रहने वाले प्राणियों के कवच एवं कंकाल अथवा परिचित वन के वृक्षों की पत्तियां जो निश्चय ही हिमनदीय मूल के निक्षेपों के साथ, जो उत्तर ध्रुवीय अवस्थाओं के द्योतक हैं, अंतरा संस्तरित हैं ।" "...गुलमर्ग के ही शाद्वल बने हिमोढ़ों के नीचे, जिनसे इतने उत्तम गोल्फलिंक बने हैं, जीवाश्ममय अंतराहिमनदीय मृत्तिका विसर्पी नालों के किनारों पर, अनेक स्थानों पर, दिखाई पड़ती हैं । उनमें से कुछ तो सड़े पादप अवशेषों के कारण काली-सी दिखाई देती हैं, अन्य जो भूरे नीले रंग की होती है, अलवण जल के मोलस्का, विशेषतः गेस्ट्रोपाड के कवचों से भरी पड़ी हैं । ये उस समय की याद दिलाते हैं जब यह क्षेत्र काफी निम्न स्तर पर था और प्राणी जीवों से भरी झील से ढका हुआ था । तत्पश्चात टंडी हवा की लहर आई और तब टोशमैदान और अब अफरवट के नाम से ज्ञात पहाड़ियों से हिमनद अपने मार्ग के शैलों के टूटे मलबे के साथ झील में उतर आए । बर्फ के अंतिम रूप से पिघल जाने के बाद रेत, मिट्टी और विभिन्न आकारों के नुकीले बोल्डर का मिश्रित मलबा टीलों के रूप में रह गया, कमोबेश जैसा कि आजकल के दिखाई पड़ते हैं ।"

यह कश्मीर की उस बहुचर्चित परंपरागत किवदंती से मेल खाता है जो अनादि काल से चली आ रही है और उसके अनुसार कश्मीर की घाटी पहले एक झील थी । कश्मीर के भौतिक लक्षण भी यहां की परंपरा से भलीभांति मिलते हैं । डल, मानसबल, अलर और सैकड़ों अन्य झीलें जो कश्मीर की दृश्यभूमि पर बिखरी पड़ी हैं इस विशाल नूतन युग की झील के क्रमशः छोटे होते हुए अंश ही हैं जिसके किनारे पुरापाषाणी मानव बसता था ।

6. स्पिति की पो श्रेणी

सन् 1937 में प्रोफेसर साहनी ने डब्लू गोथन के साथ एक लेख प्रकाशित किया जिसमें स्पिति की पो श्रेणी से प्राप्त कुछ महत्वपूर्ण निचले कार्बनी पादपों का वर्णन था । पो श्रेणी का नाम स्पिति के पो गांव के नाम पर दिया गया है, जिसके आस पास जीवाश्म पाए गए थे । इनमें शैल और क्वार्ट-जाईट के लगभग दो हजार फुट हैं जिनसे कनावर तंत्र का ऊपरी भाग बनता है । यह श्रेणी दो भागों में विभाजित की जा सकती है । निचले भाग में मुख्य रूप से काले रंग के शैल हैं जो आग्नेय अंतर्वेधनों के कारण बहुत बदल गए हैं परंतु स्थानिकत रूप में शैल अपरिवर्तित हैं और उनमें आंशिक पत्तों की छाप मिलती है । श्रेणी के ऊपरी भाग को पेनेस्टेला कहते हैं और वह समुद्री पेड़-पौधों से भरा पड़ा है ।

इन जीवाश्मों की पहचान पहले ही जीलर द्वारा की जा चुकी है और ऊपर

के दोनों लेखकों ने उसके निष्कर्ष की पुष्टि की, जिसका अर्थ हुआ कि ये जीवाश्म हिमनदन पूर्व वनस्पतिजात के अवशेष थे। ये वनस्पतिजात गोंडवाना के अन्य भागों में भी पाए गए और ऐसा प्रतीत होता था कि वे ग्लोब पर कमोबेश समान रूप से वितरित थे। गोंडवाना हिमनदन की भूवैज्ञानिक आयु के विवादास्पद प्रश्न के बारे में उनकी राय थी कि हिमयुग कार्बनी काल के अंत के बहुत पहले ही आ गया होगा।

हिम उत्तरी गोलार्ध से दक्षिणी गोलार्ध तक फैल गया था जिसके कारण जीवन के अनेक रूप पृथ्वी की सतह से मिट गए थे। दलदल से पानी निकल जाने से वे सूख गए थे। सब ओर बड़ी बड़ी पर्वत श्रेणियां दिखाई पड़ती थीं। स्थानीय और जलीय पादपों एवं प्राणियों को जीवित रहने के लिए अन्य तरीके अपनाने पड़े। बड़े बड़े मार्स और वृक्ष-पर्णांग विलुप्त हो गए और भूमि की प्रतिक्रिया बदली हुई जलवायु में अनेक प्रकार से हुई। हिमयुग के बीच में ही अपेक्षाकृत समृद्धि के अंतराहिमानी काल भी आए जब पादपों और जीवों की वृद्धि हुई और कुछ जातियों ने अपेक्षाकृत ठंडी जलवायु से कुछ हद तक सामंजस्य स्थापित कर लिया। अनेक अवसरों पर साहनी ने इस मत के साथ अपनी सहमति प्रकट की किं हिमयुग ने सार्वभौम वनस्पतिजात ग्लोसोप्टेरिस के आधिपत्य को भंग कर दिया।

7. राजमहल श्रेणी

जुरैसिक राजमहल वनस्पतिजात के गोंडवाना पादपों पर ही अनुसंधान करने की सबसे अधिक धुन प्रोफेसर साहनी को थी। ओल्ड्हम, मारिस और फिस्टमैंटल जैसे भूवैज्ञानिकों ने पहले ही राजमहल पहाड़ियों के ऊपरी गोंडवाना संस्तरों पर अनुसंधान कार्य किया था, पर अब साहनी के अनुसंधान के साथ एक नए युग का सूत्रपात हुआ। उन्होंने बहुसंख्यक रोचक एवं विशिष्ट जीवाश्मी पादपों की खोज की। उन्हें कुछ नई जातियां और दो नए वंश ओन्थियोडेन्ड्रान और राजमहालिया मिले। यद्यपि राजमहल सामग्री में छापे और अश्मीभूत नमूने दोनों ही प्राप्त हुए, पर उस क्षेत्र से मिले जीवाश्मी पादपों में अश्मीभूत पदार्थ ही उनके अनुसंधान के प्रमुख विषय बने।

प्रोफेसर साहनी के अनुसंधान कार्य के महत्वपूर्ण योगदानों में उनके जीवाश्म विलियम सोनिया सिवार्डियाना (1932 एफ) का अध्ययन भी एक था। इससे बेनेटिटेल्स गण के बारे में पहले से वर्तमान ज्ञान में यथेष्ट वृद्धि हुई। यद्यपि राजमहल श्रेणी में इस समूह की तनों, पत्तों और तथाकथित पुष्पों (वर्तमान पौधों

में पुष्प नहीं होते) के रूप में उपस्थिति ज्ञात थी परंतु केवल एक नमूने को छोड़कर और सभी अलग अलग टुकड़ों में थे और इसलिए एक ही पौधे का निर्माण कठिन था । प्रोफेसर साहनी का अन्वेषण मुख्य रूप से बिहार के संथाल परगना जिले में स्थित अमरपारा से प्राप्त दो नमूनों पर केंद्रित था । यह पुष्प विलियम सोनिया स्कोटिका के पुष्प के वर्णन से एकदम मिलता था और सावधानीपूर्वक उनकी तुलना करके प्रोफेसर साहनी यह साबित कर सके कि यह पुष्प ऐसे पौधे की किस्म का था जिसके बकलैडिया इंडिका तने और टीलोफाईलम पत्ते होते हैं । उन्होंने पूरे पौधे का नाम विलियम सोनिया सिवार्डियाना रखा ।

एक सिलिकीभूत शैल जिसमें अश्मीभूत पादपों के भली-भांति सुरक्षित अवशेष प्रचुरता से मिलते हैं, राजमहल श्रेणी की निपनिया और अमरपारा में पाया जाता है । प्रो. साहनी ने इसको एकत्र करने के लिए विशेष यात्राओं का संगठन किया और अपने छात्रों एवं सहायकों के साथ मिलकर बहुत बड़ी संख्या में नमूनों को एकत्र किया । वास्तव में अपनी मृत्यु के पूर्व जिस अंतिम यात्रा का उन्होंने संचालन किया वह इसी क्षेत्र की थी ।

८. पेन्टाक्साइली

प्रोफेसर साहनी द्वारा राजमहल पहाड़ियों के जीवाश्ममय क्षेत्रों में पाई गई अधिकांश सामग्री सिलिकीभूत थी और भलीभांति सुरक्षित थी पर उनमें कुछ मुद्राश्म भी मिले । बिहार के संथाल परगना, अमरपारा जिले में डुमरत्त्दि के निकट राजमहल पहाड़ियों में स्थित निपानिया गांव में अश्मीभूताश्म बहुतायत से मिले । वे एक ही द्वितीयक शैल के एक मोटे संस्तर में पाए गए जो संभवतया जीवाश्ममय झील-निक्षेप था । अलवण जल के शैल ज्वालामुखी राख मिश्रित लावा प्रवाह की एक विस्तृत श्रेणी के साथ अंतरासंस्तरित थे । दक्कन प्लेटो के समान इन ज्वालामुखी शैलों से बहुधा सोपानी पहाड़ियां बनीं जिससे दृश्यभूमि विलक्षण और मनोहर दिखाई पड़ती है ।

राजमहल की पहाड़ियों में बड़े महत्व के नमूने मिले और प्रोफेसर साहनी ने वहां के कुछ महत्वपूर्ण वंशों का वर्णन किया । इन वंशों में होमोक्सिलान, राजमहलेन्सी, राजमहलिया पैरेडाक्सा और विख्यात नमूना विलियम सोनिया सिवार्डिगाना सम्मिलित हैं । परंतु जीवाश्म वनस्पति विज्ञान में उनका महत्वपूर्ण योगदान था पुरावनस्पति विज्ञान के लिए एक असाधारण महत्व के अनावृतबीजी की खोज । उन्होंने अपनी नवीन खोज का नाम पेन्टाक्साइली रखा । निपनिया और अमरपारा के जीवाश्मों के अन्वेषण की प्रगति एक रोचक कथा माला के समान

है । टीनियोप्टेरिस वंश की आकृति के अंतर्गत पर्णांग, साईकेडेलीज और वेनेट्टिटेलीज का होना ज्ञात था । प्रोफेसर साहनी ने पाया कि निपनिया पत्तों की मध्यशिरा में मध्यादिदारूक संवहन पूल की संरचना वर्तमान साइकैंडूस में मिलने वाले मध्यादिदारूक संवहन पूल की संरचना से लगभग बिल्कुल मिलती-जुलती है । पेन्टाक्साइली समूह के लक्षणों में कोनीफेरेलीज, वेनेट्टिटेलीज और साईकेडेलीज के लक्षणों का सम्मिश्रण मिलता है । परंतु पुष्पक्रम और शंकुओं की आकारिकी और तने का संवहन शरीर उनसे अलग था । भाग्यवश पेन्टाक्साइली अन्वेषण समय पर अंतिम चरण में पहुंच गया और प्रोफेसर साहनी के अंतिम लेख में सम्मिलित किया जा सका । प्रोफेसर साहनी द्वारा किए गए इस अंतिम अनुसंधान के महत्व को ध्यान में रखकर यह उचित समझा गया कि बीरबल साहनी पुरावनस्पति विज्ञान संस्थान की मुद्रा के लिए उनके द्वारा पुनर्निर्मित पेन्टाक्साइल के आधार पर बने डिजाइन को चुना जाए ।

९. लवण श्रेणी

1944 में प्रोफेसर साहनी ने पंजाब के साल्टरेंज की लवण श्रेणी में सूक्ष्म जीवाश्मों के अन्वेषण की घोषणा की जिससे यह स्पष्टतया प्रकट होता था कि लवण श्रेणी कैम्ब्रियन कल्प की नहीं हो सकती । यह जुरैसिक के बाद की, बहुत संभव है । आदि नूतन युग की थी। बीजाणुओं, उपत्वचाओं, परागकणों, अधिचर्मस्तरों आदि जैसे जीवाश्मित अवशेषों को सूक्ष्म जीवाश्म कहते हैं ।

साठ वर्ष से अधिक समय तक लवण श्रेणी के काल का प्रश्न भूवैज्ञानिकों को उलझन में डाले हुए था, पर 1902 में जर्मनी के दो भूवैज्ञानिकों प्रोफेसर ई. कोकेन और डाक्टर एफ. नोटलिंग ने इस संबंध में अपेक्षाकृत चकित करने वाले निम्नांकित विचार का सुझाव दिया ।

"...यद्यपि वास्तव में लवण श्रेणी पुराजीवी अनुक्रम के नीचे स्थित है, फिर भी भूवैज्ञानिक रूप से उससे बहुत बाद के काल की है । यह प्रारंभिक तृतीय (आदि नूतन) महाकल्प की है ।" उनके अनुसार इसके नीचे रहने का कारण एक अतिविशाल अधिक्षेप है । इस अधिक्षेप ने कैम्ब्रियन और नूतन संस्तरों के पूरे स्तंभ को, जिनकी उर्ध्वाधर मोटाई हजारों फुट है, निस्संदेह कई मील दक्षिण की ओर ढकेल दिया है । फलतः यह लवण श्रेणी के ऊपर आ गया है ।

खेवड़ा की लवण श्रेणी में प्रोफेसर साहनी की रुचि बचपन से ही थी, जब वे अपने पिता और भाइयों के साथ ग्रीष्मावकाश में उस क्षेत्र के 'ट्रेक' पर जाया करते थे । इस समस्या की ओर प्रोफेसर साहनी का ध्यान बहुत दिनों से था

और 1947 में उन्होंने कहा, "...लगभग चार वर्ष पहले जब विद्यार्थियों के एक दल के साथ मैं खेवड़ा की नमक की खान में गया था, तब मेरे मन में आया कि थोड़ी-सी नमकीन मिट्टी को पानी में घोलकर उससे लवण जल की कुछ बूंदों को सूक्ष्मदर्शी से देखें। विचार यह था कि चूंकि नमक किसी खाड़ी या लगून के समुद्री जल के सूखने से बना होगा, इसलिए लवण जल में जैविक अवशेषों के कम से कम सूक्ष्म चिह्न तो होंगे ही जिससे उसके भूवैज्ञानिक काल के निर्धारण का कोई न कोई सूत्र मिल जाएगा। संदेह ठीक ही निकला। द्विबीजपत्तियों और शंकुवृक्षों के काष्ठीय ऊतकों के बहुत से छोटे छोटे टुकड़े और सपक्ष प्राणियों के 'काईटिनी' अवशेष मिले। इसमें संदेह नहीं कि ये टुकड़े जल में बहकर आये थे या पवन से उड़कर उसके ऊपर गिरे थे। यह तो स्पष्ट था कि जब समुद्र था उस समय ये प्राणी जीवित थे और नमक संभवतया कैम्ब्रियन जितना प्राचीन नहीं हो सकता था।

नमूने के रूप में किए गए अपने इन परीक्षणों के परिणाम से प्रोफेसर साहनी ने निष्कर्ष निकाला कि प्रोफेसर कोकेन और प्रोफेसर नोटलिंग का सुझाव ठीक ही था। उन्होंने लिखा कि "लवण श्रेणी अपने ऊपर के संस्तर से बहुत बाद के काल की है और इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार किया जा सकता है। आदि नूतन कल्प की पूरी श्रेणी और ऊपर स्थित तृतीय कल्पतक के संस्तर उत्तर से दक्षिण कई मील तक सशरीर घुस आए हैं। संभवतया लवण श्रेणी के शीर्ष पर स्थित अत्यंत कोमल और प्लास्टिक सेंधा नमक और जिप्सम द्वारा एक प्रकार से स्नेहक लगी सतह से फिसलकर या स्केटिंग करते हुए ये आ गए हैं।"

प्रोफेसर हैले ने भी इन सिद्धांतों की पुष्टि की और टिप्पणी की, "इसका अर्थ है कि पुराजीवी एवं मध्यजीवी संस्तरों का समूचा पैकेट, जिससे साल्ट रेंज के अधिकांश भाग की रचना होती है, एक बड़े भारी अधिक्षेप द्वारा नीचे स्थित लवण पर्वत के ऊपर सरका दिया गया।"

किंतु प्रोफेसर जी और कुछ अन्य भूवैज्ञानिक प्रोफेसर साहनी की परिकल्पना से सहमत नहीं हुए। उनके मत से साल्ट रेंज की लवण श्रेणी अपने सामान्य स्तरिक अनुक्रम में है और इसलिए कैम्ब्रियन पूर्व काल की है। प्रोफेसर जी के तर्कों का प्रोफेसर साहनी ने 1947 में यह उत्तर दिया : "यह दिखाने के लिए यथेष्ट प्रमाण दिए जा चुके हैं कि कैम्ब्रियन मतावलंबी भूवैज्ञानिक जिस क्षेत्र निकर्षों पर विश्वास करते हैं वे निकर्ष यथोचित नहीं हैं। साल्ट रेंज के जिस प्रश्न ने इतने दिनों से हम लोगों को भ्रम में डाल रखा है, अब स्थानीय महत्व की समस्या नहीं रह गई है। हमें इसका परीक्षण व्यापक अनुभाग पर आधारित मानकों से करना चाहिए...। शैलों के साक्ष्य और जीवाश्मों के साक्ष्य के बीच कोई वास्तविक

विवाद नही हो सकता । जब दोनों एक-दूसरे से मिलते हुए प्रतीत न हों तो जीवाश्मों का प्रत्यक्ष साक्ष्य ही विश्वास करने योग्य होता है । स्तरक्रम विज्ञान के लिए क्षेत्र प्रमाण से जीवाश्म विज्ञान ही अधिक विश्वसनीय आधार होता है ।"

10. असम के तृतीय कल्पियों पर किया गया कार्य

प्रोफेसर साहनी ने असम के तृतीय कल्पियों के सूक्ष्म वनस्पतिजात पर बहुत अधिक अनुसंधान किया । उन्होंने यह कार्य बरमा शैल के लिए किया । उनके अनुसंधान से साबित हो गया कि पुरावनस्पति वैज्ञानिक विधियों के अनुप्रयोग की असम के आर्थिक भूविज्ञान में भी स्पष्ट संभावनाएं थीं । अपने जीवन के उत्तरार्ध में उनकी रुचि विशेष रूप से सूक्ष्म जीवाश्म विज्ञान में हो गई, जिसके संबंध में उनका कथन है, "पिछले कुछ दशकों में सूक्ष्म जीवाश्म विज्ञान ने उन्नति करके भूविज्ञान में यथेष्ट महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया है; विशेषकर तेल के अन्वेषण में ।"

भारत में उन्होंने जीवाश्म बीजाणुओं ओर परागकणों पर अनुसंधान कर पहल की । यह परागाणु विज्ञान कहलाता है । बीजाणुओं में उनकी दिलचस्पी अधिकतर उनके प्रयोग द्वारा भारतीय स्तरक्रम विज्ञान की समस्याओं का समाधान निकालने में थी । सूक्ष्म जीवाश्मों के उपात्तों से भारत के तथाकथित जीवाश्महीन पर्वतों के भौगोलिक संबंधों के वर्गीकरण में यथेष्ट सहायता मिली । इन जीवाश्महीन पर्वतों का काल या तो ज्ञात नहीं था अथवा विवादास्पद था । उन्होंने अपने अन्वेषणों से यह सिद्ध कर दिया कि असम के तृतीय कल्पी सूक्ष्म जीवाश्मों में अति समृद्ध थे । उनकी बड़ी तीव्र इच्छा थी कि आधुनिक भारतीय वनस्पतिजात के बीजाणुओं और परागों का एक प्रतिनिधि संग्रह एकत्र किया जाए, जिसका उपयोग जीवाश्म रूपों से तुलना करने में किया जा सके । इस अभिप्राय से उन्होंने सुझाव दिया था कि भारत में कोयले के संस्तरों में यह संबंध स्थापित करने के लिए कोयले में मिलने वाले बीजाणुओं और उपत्वचाओं का क्रमबद्ध अध्ययन किया जाए । परागाणु विज्ञान अर्थात परागकणों और बीजाणुओं के अध्ययन का जो महत्व उनके मन में था वह लखनऊ के पुरावनस्पति विज्ञान संस्थान, कोयला पुरावनस्पति विज्ञान और तेल सूक्ष्म जीवाश्म विज्ञान के विभागों के खोलने से प्रकट होता है ।

11. भूविज्ञान में साहनी का योगदान

1893 में एच. डब्ल्यू. विलियम्स ने पृथ्वी और इसके निवासियों के जिन अध्ययनों में भूवैज्ञानिक समय मापक्रम का उपयोग किया जाता है उनके लिए भूकालानुक्रमिकी

शब्द बनाया था । उनका और अमेरिका के प्रसिद्ध भूवैज्ञानिक चार्ल्स शूचर्ट का मत था कि भूकालानुक्रमिकी के व्यापक अर्थ के अंतर्गत अवसादों और जीवन के आधार पर पृथ्वी का काल-निर्धारण भी था । लंदन विश्वविद्यालय में पर्यावरणी पुरातत्व के प्रोफेसर फ्रेडरिक ज्यूनेट ने इस विषय का सारांश प्रस्तुत करते हुए लिखा, "विलियम्स ओर शूचर्ट दोनों ही द्वारा दी गई परिभाषाओं में भूकालानुक्रमिकी और स्तरिकी के घनिष्ठ संबंध पर जोर दिया गया है और भूअवसादों की स्तरिकी बहुत कुछ पुरावनस्पति विज्ञान पर आधारित है । अतएव बीरबल साहनी का इस बात पर जोर देना उचित ही था कि भूकालानुक्रमिकी के और अधिक विकास के लिए पुरावनस्पति विज्ञान का परोक्ष एवं कुछ हद तक प्रत्यक्ष रूप से एक प्रमुख कारण बनाना अवश्यंभावी था ।"

जीवाश्मी पादपों के अध्ययन में बड़ी अड़चन पड़ गई थी, क्योंकि भारतीय भूवैज्ञानिक भूकालानुक्रमिकी में उनके महत्व को संदेह की दृष्टि से देखते थे । 1920 में प्रोफेसर सेवार्ड और साहनी ने गोंडवाना पादपों के संशोधन पर अपनी पुस्तक प्रकाशित की जो भारतीय भूविज्ञान और पुरावनस्पति विज्ञान के इतिहास में एक भूचिह्न के समान सिद्ध हुई । प्रोफेसर सेवार्ड ने भारतीय भूविज्ञान सर्वेक्षण द्वारा भेजे गए भारत के कुछ जीवाश्मी नमूनों का स्वयं अध्ययन करना यह कह कर अस्वीकार कर दिया कि उनके अध्ययन का पहला हक उनके शिष्य प्रोफेसर साहनी को था । इस प्रकार प्रोफेसर साहनी को उनके अध्ययन के लिए उचित व्यक्ति समझकर उन्होंने उनकी बड़ी श्लाघा की ।

भारत में प्रोफेसर साहनी के वापस लौटने के साथ ही पुरावनस्पति विज्ञान में अनुसंधान कार्य पुनः आरंभ हो गया । वनस्पतिज्ञ और भूवैज्ञानिक दोनों ही होने के कारण इस पुनरुज्जीवन की पहल के लिए वे उपयुक्त व्यक्ति थे । अपने वैज्ञानिक वृत्तिक के प्रारंभिक चरण में ही उन्होंने पुरावनस्पति वैज्ञानिक अनुसंधान में भूविज्ञान के अतीत महत्व को समझ लिया था और अंत में भूवैज्ञानिकों को यह विश्वास दिलाने में सफल हुए थे कि पादपाश्म विज्ञान के अध्ययन से ऐसे दूरगामी परिणाम निकलते हैं कि भूवैज्ञानिक उनकी अनदेखी नहीं कर सकते हैं ।

प्रोफेसर साहनी ने पुरावनस्पतिज्ञों को ज्ञात सभी विधियों से भारत में पादप युक्त शैलों के निरीक्षण की पहल की । वे सर्वाधिक विवादास्पद और निरुत्साहित करने वाले अवसादों का बिना किसी पूर्वाग्रह के अन्वेषण करने के लिए विख्यात थे । उन्होंने न केवल ज्ञात अन्वेषण विधियों में सुधार किया वरन नई विधियों का भी आविष्कार किया, विशेषकर उन अवसादों के अन्वेषण के लिए जिन्हें पहले ध्यान देने योग्य नहीं समझा जाता था । वे क्षेत्र कार्य पसंद करने के लिए प्रसिद्ध थे और इस प्रकार उनका कार्य केवल प्रयोगशाला में ही सीमित नहीं था । जीवाश्मी

स्थलों पर जाने का अवसर वे कभी नहीं छोड़ते थे । खेवड़ा की लवण पर्वतमाला, बिहार की राजमहल पहाड़ियों और दक्कन के अंतराट्रेपी प्लेटों की उनकी अनेक यात्राओं से सभी परिचित हैं । जीवाश्मी स्थलों पर वे अपनी नोट बुक, पुरावनस्पतिज्ञ के हथौड़े और कैमरे के साथ बहुपरिचित रूप में विद्यमान रहते । उनकी अंतर्दृष्टि बड़ी सूक्ष्म और कौशलपूर्ण थी और जटिल भूवैज्ञानिक संरचना की उन्हें गहरी समझ-बूझ थी । बहुसंख्यक टिप्पणियां जिन्हें वे छोड़ गए हैं, इसकी साक्षी हैं । इन टिप्पणियों से पादपाश्म विज्ञान विशेषकर लवण माला से संबंधित पादपाश्म विज्ञान के विविध पक्षों पर प्रकाश पड़ता है ।

भारतीय भूवैज्ञानिक सर्वेक्षण ने उनके समादर के लिए अपने मुख्यालय कलकत्ता में उनकी आवक्ष प्रतिमा स्थापित की है

10

सावित्री साहनी

प्रोफेसर बीरबल साहनी के जीवनचरित का वर्णन उनकी पत्नी, श्रीमती सावित्री का उल्लेख किए बिना अूधरा ही रहेगा । 1922 में उनका विवाह प्रोफेसर साहनी से हुआ । वे प्रोफेसर साहनी के पिता के एक मित्र श्री सुंदर दास सूरी की पुत्री हैं, जो उन दिनों लाहौर में स्कूलों के निरीक्षक थे । उन्होंने बाद में सेंट्रल ट्रेनिंग कालेज लाहौर के प्रिंसिपल के पद से अवकाश ग्रहण किया ।

जिस दिन से बीरबल साहनी ने सावित्री सूरी से विवाह किया लगभग तभी से वे प्रतिदिन दो गुलाब के फूल उनको भेंट करते थे । फूलों के इस उपहार ने अनुष्ठान का रूप ले लिया था और श्रीमती सावित्री साहनी अपने पति द्वारा दिए जाने वाले दो फूलों के भेंट की प्रतीक्षा करती रहती थीं । उनके मन में एक क्षण के लिए भी विचार नहीं उठा कि यह अनुष्ठान एक दिन बंद हो जाएगा । और फिर अकस्मात ही, इसके पूर्व कि वे इसका निहितार्थ समझतीं, प्रोफेसर साहनी काल के कराल हाथों में पड़ गए और उनका सपना चकनाचूर हो गया । प्रोफेसर साहनी का अंतकाल हो गया; वे चल बसे और उनके साथ ही श्रीमती साहनी को प्रतिदिन प्रातः मिलने वाला दो फूलों का उपहार भी समाप्त हो गया । पर श्रीमती साहनी की मान्यता है कि उन्हें अब भी अपने पति से दो फूलों का उपहार मिलता है। प्रातः पूजा करने के बाद जब वे अपने पति की फोटो पर फूल चढ़ाती हैं, तब उनमें से दो, मात्र दो फूल उनके पैरों पर गिर पड़ते हैं, जिन्हें वे अपने पति का उपहार मानती हैं ।

प्रोफेसर साहनी और श्रीमती साहनी के घनिष्ट संबंध और परस्पर आदर भावना की कहानी प्रोफेसर साहनी के जीवनकाल में ही प्रचलित हो गई थी । लोग साधारणतया कहा करते, "ये कितने सुंदर और आदर्श दंपति हैं ।" इसका भी कारण था । उनके समान परस्पर निष्ठा रखने वाले बहुत कम दंपति होते हैं । 'करवा चौथ' को जो चंद्र पंचांग के अनुसार कार्तिक (अक्तूवर, नवंबर) के कृष्ण पक्ष की चतुर्थी को पड़ता है, उत्तर भारत की स्त्रियां अपने पति की दीर्घ आयु, स्वास्थ्य और सुख के लिए कठोर व्रत रखती हैं । श्रीमती साहनी भी यह

व्रत रखती थीं, यह तो आश्चर्य की बात नहीं थी पर अनेक लोगों को यह जानकर आश्चर्य होता था कि अपनी पत्नी की भावना के प्रति वैसी ही भावना से प्रेरित होकर वे भी व्रत रखते थे ।

श्रीमंती साहनी के लिए उनके पति एक संस्था के समान थे, उनका जीवन केवल पति और उनकी उपलब्धियों के लिए अर्पित था । यह श्लाघा अन्योन्य थी । प्रोफेसर साहनी का भी अपनी पत्नी में पूर्ण विश्वास था और वे अपनी सभी योजनाओं, अनुसंधान के फलों एवं परियोजनाओं पर उनसे विचार-विमर्श करते थे । उनके स्नातक पूर्व छात्र के रूप में श्रीमती साहनी ने केवल उनके व्याख्यानों का ही नहीं, वरन स्वयं उनका भी अध्ययन किया था । उनके लिए प्रोफेसर साहनी धर्मशास्त्र के समान थे, उनके दैनिक कार्यक्रम से वे समझ जातीं कि संध्या को उनकी मनः स्थिति कैसी होगी और तदनुरूप ही वे वस्त्र धारण करतीं । कभी भी ऐसा नही हुआ कि प्रोफेसर साहनी उनसे झुंझला उठे हों या क्रुद्ध हुए हों । वास्तव में पत्नी की इच्छाओं के प्रति उन्हें अपूर्व बोध था । वे चाहे कितनी ही तर्कहीन क्यों न हों, पर वे मानते अवश्य थे । निम्नांकित उदाहरण से यह स्पष्ट हो जाएगा ।

लखनऊ में गोमती के किनारे बने अपने घर का अभिकल्प (डिजाईन) प्रोफेसर साहनी और श्रीमती साहनी ने स्वयं ही तैयार किया था । घर बनने के दौरान, श्रीमती साहनी रेखाचित्रों में बहुधा परिवर्तन करती रहतीं । कभी वे किसी स्थान पर खिड़की चाहतीं, किसी अन्य स्थान पर द्वार अथवा कोई दीवार गिरवा देना चाहतीं । प्रोफेसर साहनी के लिए इन सुझावों को न मानने का तो प्रश्न ही नहीं था और बिना व्यय की परवाह किए परिवर्तन अवश्य किया जाता । इस घर पर दोनों को गर्व था और उन्होंने अपने जीवन के अंतिम अनेक वर्ष वहीं बिताए । गोमती के किनारे स्थित लखनऊ विश्वविद्यालय से उनका घर दूर नहीं था । वे लोग एक बजरा बनवाने की योजना बना रहे थे, ताकि दिवसावसान पर श्रीमती साहनी लखनऊ विश्वविद्यालय जाकर दैनिक कार्य के उपरांत प्रोफेसर साहनी का वहीं स्वागत कर सकें । दुर्भाग्य से उनकी यह इच्छा पूरी न हो सकी। इसी प्रकार उनकी एक अन्य आकांक्षा भी कभी फलीभूत नहीं होने वाली थी । प्रोफेसर बीरबल साहनी की योजना कुमायूं-पहाड़ियों में स्थित अल्मोड़ा के अपने विशाल गृह को पुरावनस्पति विज्ञान संस्थान के आवासीय ग्रीष्म केंद्र में परिणत करने की थी, ताकि भारत के मैदानों की असह्य गर्मी के दिनों में संस्थान वहां चला जाया करे । प्रयोगशालाओं को अल्मोड़ा ले जाने से उन्हें आशा थी कि अनुसंधान कार्य ठंडी पहाड़ियों में बिना शिथिलता आए जारी रहेगा, पर दुर्भाग्यवश ऐसा होना नहीं था ।

बीरबल साहनी जब कैम्ब्रिज से लौटकर भारत आए और बनारस विश्वविद्यालय में नियुक्त हो गए, तब उनकी माता ने सोचा कि अब उनके विवाह का उचित समय आ गया है और इस संबंध में उनकी इच्छा जाननी चाही । उन्होंने उत्तर दिया कि जिस किसी के भी साथ उनका विवाह हो उसे अद्वितीय सुंदरी होना चाहिए और लड़की का चुनाव अपनी माता पर छोड़ दिया । सभी जीवों में सौंदर्य प्रेम के लिए युवा बीरबल प्रसिद्ध थे । उनकी माता को अपनी भावी पुत्रवधू को ढूंढ़ने के लिए दूर नहीं जाना पड़ा । श्री सुंदर दास सूरी की पुत्री सावित्री को वे उसके बचपन से जानती थीं । लड़की की खबर पुत्र को देने के लिए श्रीमती ईश्वर देवी ने शीघ्र ही बनारस की यात्रा की । उन दिनों की प्रथा के अनुसार बीरबल साहनी ने अपनी माता के विवेक पर विश्वास करके सावित्री सूरी से विवाह करना स्वीकार कर लिया । उन्हें निराश नही होना पड़ा । वे पत्नी के सौंदर्य पर इतने मुग्ध थे कि जब उनके साथ यात्रा करते समय रेलगाड़ी मार्ग के किसी स्टेशन में प्रवेश करती तो सदैव खिड़कियों को बंद कर देते ताकि डिब्बे में बैठी हुई सुंदरी पत्नी को देखकर लोग उन पर आंख न गड़ाए रहें । कहना ना होगा कि सदा रेलवे की प्रथम श्रेणी के 'कूपे' में यात्रा करते, क्योंकि इस सदी के प्रारंभिक दिनों में हवाई जहाज से यात्रा करने का प्रचलन नहीं था ।

श्रीमती सावित्री साहनी अपने प्रति उनकी कोमल भावनाओं के प्रतिदान स्वरूप वही काम करतीं, जिससे पति को प्रसन्नता होती । ऐसी एक घटना उनकी सांघातिक बीमारी के ठीक एक दिन पूर्व हुई । श्रीमती साहनी हल्के नीले रंग की साड़ी पहने हुए थीं । यद्यपि साड़ी पुरानी थी, फिर भी प्रोफेसर साहनी ने कहा कि उसका रंग उन पर खूब जंचता है, जैसे उन्होंने पहली बार उसे देखा हो । तुरंत ही श्रीमती साहनी ने उत्तर दिया कि भविष्य में वे उनको उसी रंग की साड़ी में देखेंगे । पर भाग्य में तो कुछ और ही लिखा था । दूसरे ही दिन प्रोफेसर साहनी पर हृदयरोग का जोरों का दौरा पड़ा जिससे वे पुनः स्वस्थ्य न हो सके और श्रीमती साहनी को शेष जीवन विधवा के रूप में बिताना पड़ा ।

प्रोफेसर साहनी की वैज्ञानिक उपलब्धियों में श्रीमती साहनी जो रुचि दिखातीं और उनके प्रति जो अटूट निष्ठा रखतीं, उसका वे पूर्ण आदर करते । उनके भारत तथा विदेश के पर्यटनों में वे सदैव साथ रहतीं । प्रोफेसर साहनी समझते थे कि यदि वे किसी पर विश्वास कर सकते थे तो केवल उन्हीं पर । उनसे प्राप्त प्रोत्साहन, सहायता तथा अवलंब को वे बहुधा स्वीकार करते थे । मृत्यु के कुछ ही क्षणों पूर्व श्रीमती साहनी से कहे गए उनके अंतिम शब्द 'संस्थान का संपोषण करना' उनमें उनके विश्वास की ही पुष्टि करते हैं और श्रीमती साहनी के लिए भी यह सराहनीय है कि जिस ध्येय के लिए उनके पति ने अटूट उत्साह

से कार्य किया था उसकी उन्होंने सेवा की है और यह पूरे विश्वास से कहा जा सकता है कि संस्थान आज जो कुछ है उसका अधिक श्रेय श्रीमती साहनी के प्रयास को है । यदि वे न होतीं तो संस्थान अपनी शैशवावस्था में ही मृत हो गया होता ।

11

उपसंहार

प्रोफ़ेसर साहनी की राय में पुरावनस्पति विज्ञान के क्षेत्र में किए गए वैज्ञानिक अन्वेषणों को प्रकाशित करने के लिए एक पत्रिका की आवश्यकता थी, अतएव वे 'दी पैलिया-बॉटनिस्ट' नाम की पत्रिका निकालने की योजना बना रहे थे । भाग्य की विडंबना से 1952 में प्रकाशित पत्रिका का प्रथम अंक प्रोफेसर बीरबल साहनी का स्मृति अंक बना । अपने किस्म की यह प्रथम पत्रिका है, इसके व्यापक अंतर्राष्ट्रीय विषय क्षेत्र के कारण संसार के सब भागों के अनुसंधान लेख इसमें प्रकाशित होते हैं ।

बीरबल साहनी शारीरिक और मानसिक दृष्टि से ओजस्वी व्यक्तित्व के थे । वे सदैव सावधान रहते थे और कष्ट से कभी मुख नही मोड़ते थे । अपनी मृत्यु के कुछ ही सप्ताह पूर्व उन्होंने राजमहल पहाड़ियों के भ्रमण का नेतृत्व किया था । पुरावनस्पति विज्ञान संस्थान में अनुसंधान के लिए उनके मन में अनेक परियोजानाएं थीं, उनमें से एक भारत में पादप-संस्तरों का भूमापन था । एक अन्य परियोजना जिसे उच्च प्राथमिकता दी गई थी वह थी हिमालय के स्पिति क्षेत्र सहित भारत के विभिन्न भागों की यात्रा का अभियान । अपनी मृत्यु के समय वे स्पिति से प्राप्त कुछ डिवोनीकल्प के पादप-जीवाश्मों, कुछ पुराजीवी महाकल्प के वृक्ष पर्णांगों जैसे क्यूबीकालिस,ऐन्काइराप्टेरिस एवं सैरोनियस तथा दक्कन अंतराट्रेपीय जीवाश्मों जैसे साईक्लैन्डोडेन्ड्रान साहनीआई सौसारो स्पर्मम फर्मोराई, और निपाडाइट जाति के जीवाश्मों के अध्ययन में तल्लीन थे ।

भारतीय विज्ञान की जैसी सेवा प्रोफेसर साहनी ने की, वह कम ही लोगों ने की होगी । अपने सत्तावन वर्ष की अल्प जीवनावधि में वे लगभग महत्वपूर्ण विद्वत संस्थानों से संबंधित हो गए थे । उनके व्यस्त कार्यक्रम में इतना काम भरा था कि किसी और व्यक्ति से उनकी तुलना करना कठिन होगा । संक्षेप में उनकी उपलब्धियां इस प्रकार हैं :

लाहौर में उन्होंने पहले सेंट्रल मॉडल स्कूल में शिक्षा ली और तत्पश्चात

शासकीय कालेज में, जहां से 1911 में विज्ञान-स्नातक की उपाधि प्राप्त की और स्नातकोत्तर अध्ययन के लिए इमनानुयेल कालेज, कैम्ब्रिज में दाखिल हो गए । प्राकृतिक विज्ञान के ट्राइपोस के प्रथम भाग में उन्हें 1913 में प्रथम श्रेणी मिली और कुछ समय बाद वे अपने कालेज की संस्थापन छात्रवृति के लिए और बाद में शोध छात्रवृति के लिए चुन लिए गए । लंदन विश्वविद्यालय से डाक्टर (वाचस्पति) की उपाधि लेकर 1939 में वे भारत लौट आए । उस समय तक वैज्ञानिक के रूप में उनका नाम और यश दूर दूर तक फैल गया था और सारे संसार की विद्वत सभाओं एवं संस्थाओं में उन्हें सम्मानित करने के लिए होड़ लग गई ।

1921 में वे लाहौर की दार्शनिक सभा के अध्यक्ष थे । 1924 में वे भारतीय वाचस्पति सभा के संस्थापक सदस्य बने और एकाधिक बार इसकी अध्यक्षता की । 1926 में उन्होंने भारतीय विज्ञान कांग्रेस के भूविज्ञान खंड का सभापतित्व किया । 1930 में कैम्ब्रिज में हुई पंचम अंतर्राष्ट्रीय वानस्पतिक कांग्रेस के पुरावनस्पति विज्ञान खंड के वे उप-सभापति बनाए गए, जो उन दिनों किसी भारतीय के लिए दुर्लभ सम्मान था ।

1935 में वे एम्सटर्डम में हुई छठवीं अंतर्राष्ट्रीय वानस्पतिक कांग्रेस के उप-सभापति थे और एक वर्ष बाद अर्थात 1936 में रायल सोसाइटी लंदन ने उन्हें अपना 'फेलो' (अधिसदस्य) बनाकर सम्मानित किया । लंदन की रायल सोसाइटी के 'फेलो' बनने वाले वे पांचवें भारतीय और प्रथम भारतीय वनस्पतिज्ञ थे ।

1932 में वे आंध्र विश्वविद्यालय आयोग पाठ्य समिति, नियुक्ति मंडल आदि के सदस्य बनाए गए । उन्हें आंध्र विश्वविद्यालय द्वारा प्रदत्त सर्वोच्च सम्मान कुट्टमंची रामलिंग रेड्डी राष्ट्रीय पुरस्कार प्रदान किया गया । 1947 में उन्होंने इस विश्वविद्यालय में अल्लडि कृष्ण स्वामी स्मारक व्याख्यान माला के अंतर्गत भाषण दिया । 1932 में वे लाहौर में विशिष्ट विश्वविद्यालय व्याख्याता नियुक्त किए गए और 1936 में लाहौर तथा रोहतक में विस्तार व्याख्याता नियुक्त हुए । प्रोफेसर साहनी भारतीय विज्ञान कांग्रेस के वनस्पति विज्ञान खंड के दो बार 1921 और 1938 में अध्यक्ष रहे । 1938 भारतीय विज्ञान कांग्रेस संघ का रजत जयंती वर्ष भी था । 1936 में साहनी को जैव अन्वेषण के लिए वार्कले पदक और प्राकृतिक विज्ञान का सी. आर. रेड्डी राष्ट्रीय पुरस्कार प्रदान किया गया । 1937 में वे पटना विश्वविद्यालय में प्राकृतिक विज्ञान के सुभराज राय उपाचार्य (रीडर) थे । 1938 में कलकत्ता, विश्वविद्यालय में प्राकृतिक विज्ञान के आधारचंद्र व्याख्याता और 1944-45 में बड़ौदा में गायकवाड़ व्याख्याता थे ।

वे राष्ट्रीय विज्ञान अकादमी, भारत के 1937-38 और पुनः 1942-44 में अध्यक्ष

थे । वे 1935 में विदेश खंड के और 1936 में राष्ट्रीय विज्ञान संस्थान, भारत के उपाध्यक्ष थे । 1940 में भारतीय विज्ञान कांग्रेस संघ के मद्रास सम्मेलन में वे प्रधान अध्यक्ष थे । वे भारत सरकार की वैज्ञानिक जन शक्ति समिति और वैज्ञानिक सलाहकार समिति के सदस्य थे ।

लखनऊ विश्वविद्यालय में नियुक्ति के पूर्व 1919 से 1920 तक एक वर्ष बनारस विश्वविद्यालय में और 1920-21 में लाहौर में वे वनस्पति विज्ञान के प्रोफेसर थे ।

1946 में प्रोफेसर साहनी रायल सोसाइटी वैज्ञानिक सम्मेलन, लंदन में भाग लेने के लिए भारतीय प्रतिनिधि मंडल के गैरसरकारी सदस्य के रूप में गए । 1947 में पटना और इलाहाबाद विश्वविद्यालय ने उन्हें डी.एससी. की मानद उपाधि प्रदान की ।

रोहतक के निकट खोकरा कोट टीले से सिक्कों के सांचों की खोज और भारतीय सिक्कों के ढालने की प्रविधि पर उन्हें 1945 में मुद्रा-शास्त्रीय सभा का नेल्सन राईट पदक दिया गया ।

1947 में वे अमेरिका की वानस्पतिक संस्था के विदेश संपर्क सदस्य थे, 1948 में वे कला और विज्ञान की अमेरिकी अकादमी, बोस्तों के विदेशी मानद सदस्य थे और 1948 में लंदन में आयोजित अठारहवीं अंतर्राष्ट्रीय भूविज्ञान कांग्रेस में भारत सरकार के सरकारी प्रतिनिधि थे । वे 1950 के अंतर्राष्ट्रीय वानस्पतिक कांग्रेस स्टाकहोम के मानद अध्यक्ष चुने गए थे, पर इस कार्य को संपन्न करना उनके भाग्य में नहीं लिखा था ।

वे लखनऊ 'यूनिवर्सिटी स्टडीज, फैकल्टी आफ साइंस, तथा पैलियोबाटनी इन इंडिया, ए बुलेटिन आफ करेंट रिसर्च लखनऊ' के संपादक थे ।

1947 में भारत की स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भारत के तत्कालीन शिक्षामंत्री मौलाना अबुल कलाम आजाद ने शिक्षा मंत्रालय के सचिव के पद पर प्रोफेसर साहनी की नियुक्ति की पेशकश की । प्रोफेसर साहनी सदैव अनुसंधानकर्ता रहे, फिर भी अनिच्छा से उन्होंने सचिव का पद स्वीकार करने के लिए अपनी सहमति दे दी । स्वीकृति का तार दिल्ली भेजने के बाद वे यह सोचकर बड़े दुखी तथा बेचैन हुए कि उन्हें अपनी प्रिय प्रयोगशालाओं को केवल लिपिक के कार्य के लिए छोड़ना पड़ेगा । तब तक अर्धरात्रि हो चुकी थी, कमरे में एक घंटे से अधिक समय तक चहलकदमी करने के बाद उन्होंने श्रीमती साहनी को जगाकर उनसे नवीन पद के संबंध में अपनी दुविधा बताई । श्रीमती साहनी ने, जिनसे वे छोटे-बड़े सभी मामलों में सलाह लेते थे, इस पर सहमति व्यक्त की कि वे प्रस्ताव को अस्वीकार कर दें । प्रोफेसर साहनी आधी रात को ही तारघर गए और पद

अस्वीकार करने का दूसरा तार इस निवेदन के साथ भेज दिया कि मैंने अपना सारा जीवन अनुसंधान और संस्था की स्थापना के कार्य के निमित्त अर्पित किया है, अतएव और किसी कार्य के लिए इसे छोड़ने को न कहा जाए । उनकी स्थिति में कितने लोग ऐसे प्रस्ताव को ठुकरा देते ?

प्रोफेसर साहनी सुमधुर एवं चित्ताकर्षक व्यक्तित्व के धनी थे और बौद्धिक दानशीलता के कारण ज्ञान के पिपासुओं को अपनी ज्ञान की पूंजी बांटते रहते थे । उनकी बौद्धिक सच्चाई और वैज्ञानिक तथ्यों के प्रति वस्तुनिष्ठ उपागम कहावत बन गई थी । यदि किसी अनुसंधान के निष्कर्ष या प्रेक्षणों के प्रति शंका होती तो वे संशोधन के लिए सदैव तैयार रहते, कभी झूठे सम्मान के लिए अड़े नहीं रहते ।

विवादास्पद विषयों में वे अपनी राय पर दृढ़ रहते, पर कभी हठधर्मिता पर उतारू नहीं होते । उनके उत्कृष्ट गुणों में से एक व्यंग्य और द्वेष से रहित शालीन हास्य भी था । यह जानते हुए भी कि अन्य लोग उनके विचारों से सहमत नहीं हैं, वे अपने व्यक्तिगत विचारों को बिना कटुता और डाह के व्यक्त करते थे और इससे उन्हें सर्वत्र प्रशंसा प्राप्त होती थी ।

लीज़ विश्वविद्यालय के प्रोफेसर सुजेन लेकलर्क ने इन शब्दों में उन्हें श्रद्धांजलि अर्पित की है, "प्रोफेसर साहनी अपने व्यवहार में अति विनम्र थे । उनकी तीक्ष्ण बुद्धि, सच्चाई और चरित्र में गहरी मानवता के पुट से सहानुभूति उत्पन्न होती थी जो स्वतः बढ़कर मित्रता में परिणत हो जाती थी । उनके सद्‌गुणों में सरलता और विनम्रता मिश्रित स्पष्ट कर्तव्य भावना थी जो असली भले मानुषों का लक्षण है ।"

प्रोफेसर साहनी दृढ़ सिद्धांतों के व्यक्ति थे । वे वाक्‌चातुर्य के धनी थे और अपनी हंसी उड़ाकर भी आनंद लेते थे ।

वे सदैव साफ-सुथरा सफेद खादी का चूड़ीदार पायजामा, सफेद शेरवानी और गांधी टोपी पहने रहते थे । उनके शालीन और सुसंस्कृत व्यवहार से उनके संपर्क में आने वाले सभी व्यक्ति प्रभावित होते थे । उस पुरुष में गहरी विद्वत्ता और आकर्षक व्यक्तित्व का अद्‌भुत सम्मिश्रण था । साथ ही उनकी वाणी में ओज था; और वे चतुर वक्ता थे । वे प्रसन्नचित्त, शांत, न्यायप्रिय, सज्जन और निराभिमानी थे । वनस्पति विज्ञान में सर्वोच्च पारितोषिक बीरबल साहनी स्वर्ण पदक है जो वर्ष के सर्वोत्कृष्ट वनस्पतिज्ञ को प्रदान किया जाता है । यह पुरस्कार उनके एक पुराने विद्यार्थी पादपरोग विज्ञानी और वनस्पति विज्ञान प्रयोगशाला, मद्रास के निदेशक, प्रोफेसर टी.एस. सदाशिवन द्वारा स्थापित किया गया था । उन्होंने प्रोफेसर साहनी की मृत्यु पर श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए लिखा था, "राष्ट्रीय आनंदोल्लास के बाद

ही एक विख्यात वनस्पतिज्ञ का निधन हो गया । मेरा दृढ़ विश्वास है कि भविष्य की पीढ़ी द्वारा प्रोफेसर साहनी ऐंग्लर; स्ट्रासबर्गर, गोबुल, सैख्स और जर्मनी के डी. बैरी, फ्रांस के गिलरमांड और ब्रिटेन के स्काट सेवार्ड तथा बावर की श्रेणी में रखे जाएंगे क्योंकि विज्ञान के इन महापुरुषों के समान इनका भी दृष्टिकोण सच्चे अर्थों में तर्कसंगत, राष्ट्रीय एवं अंतराष्ट्रीय था । वास्तव में प्रोफेसर साहनी अपने पदचिन्ह समय की धूलि पर नहीं, वरन भूवैज्ञानिक काल-मान पर छोड़ गये हैं ।"

अपने जीवनकाल में प्रोफेसर साहनी ने इतना अनुसंधान कार्य किया है कि सबका समावेश इस विनिबंध में किया जाना संभव नहीं है । इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि जीवाश्म वनस्पति विज्ञान का कोई ऐसा पक्ष नहीं है जिसमें प्रोफेसर साहनी को सफलता न मिली हो ।

परिशिष्ट - 1

बीरबल साहनी पारितोषिक प्राप्त करने वालों की सूची

पारितोषिक का वर्ष	नाम	पता	विशिष्टता
1	2	3	4
1957	स्वर्गीय प्रो. एम. ओ. पी. आयंगर	प्रोफेसर एवं निदेशक, विश्वविद्यालय प्रयोगशाला, मद्रास	शैवाल विज्ञान
1958	स्वर्गीय प्रो. पी. महेश्वरी	प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, वनस्पति विज्ञान विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली	आकृति विज्ञान, भ्रूण विज्ञान, प्रायोगिक भ्रूण विज्ञान
1959	प्रो. पी. पारिजा	भूतपूर्व कुलपति, उत्कल विश्वविद्यालय, कटक, उड़ीसा	पादप शरीर क्रिया विज्ञान
1960	डा. ई.के. जानकी अम्मल	प्रतिष्ठित वैज्ञानिक,वनस्पति विज्ञान उच्च अध्ययन केंद्र, मद्रास विश्वविद्यालय	कोशिकानुवंशिकी, पादप भूगोल, मानव जाति वनस्पति विज्ञान
1961	डा. बी. पी. पाल	सेवानिवृत्त महानिदेशक, आई.सी.ए.आर.	आनुवंशिकी, पादप प्रजनन
1962	प्रो. टी. एस. सदाशिवन	प्रतिष्ठित प्रोफेसर, वनस्पति विज्ञान उच्च अध्ययन केंद्र, मद्रास विश्वविद्यालय	पादप रोगविज्ञान
1963	स्वर्गीय प्रो.जे. सांतापाऊ	निदेशक, भारतीय वनस्पति विज्ञान सर्वेक्षण, कलकत्ता	पादप वर्गीकरण विज्ञान

1964	प्रो. वी. पुरी	प्रतिष्ठित प्रोफेसर, वनस्पति विज्ञान विभाग, मेरठ विश्वविद्यालय	आकृति विज्ञान, संरचना विकास, भ्रूण विज्ञान
1965	डा. एम.एस. स्वामीनाथन	महानिदेशक, आइ.सी.ए.आर	आनुवंशिकी, पादप प्रजनन
1966	प्रो. आर. डी. मिश्र	सेवानिवृत्त प्रोफेसर, वनस्पति विज्ञान, वाराणसी	पारिस्थितिक, शरीर क्रिया विज्ञान
1967	स्वर्गीय प्रो. आर. के. सक्सेना	प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, वनस्पति विज्ञान विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय	कवक विज्ञान, पादप शरीर क्रिया विज्ञान
1968	प्रो. पी.एन. मेहरा	वनस्पति विज्ञान के प्रोफेसर, पंजाब विश्वविद्यालय, चंडीगढ़	कोशिकानुवंशिकी, संरचना विकास ब्रायोफाईटा, टेरिडोफाइटा
1969	प्रो. एस. एम. सरकार	सेवानिवृत्त प्रोफेसर, बोस इंस्टीट्यूट, कलकत्ता	पादप शरीर क्रिया विज्ञान, जैव रसायन
1970	प्रो. बी. एम. जौहरी	अध्यक्ष एवं प्रोफेसर, वनस्पति विज्ञान, दिल्ली विश्वविद्यालय	आकृति विज्ञान, भ्रूण विज्ञान संरचना विकास, प्रायोगिक भ्रूण विज्ञान
1971	प्रो. जे. वेन्क्टेश्वरलु	प्रतिष्ठित प्रोफेसर, वनस्पति विज्ञान विभाग, आंध्र विश्वविद्यालय, वाल्टेयर	भ्रूण विज्ञान आनुवंशिकी, आकृति विज्ञान कोशिकानुवंशिकी, वर्गीकरण विज्ञान
1972	प्रो. सी.वी. सुब्रामनियन	प्रोफेसर, विश्वविद्यालय प्रयोगशाला, मद्रास	कवक विज्ञान, पादप शरीर क्रिया विज्ञान
1973	प्रो. आर. पी. राय	प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, वनस्पति विज्ञान विभाग, पटना विश्वविद्यालय, पटना	कोशिकानुवंशिकी, पादप प्रजनन

1974	प्रो. ए. के. शर्मा	प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, वनस्पति विज्ञान विभाग, कलकत्ता विश्वविद्यालय, कलकत्ता	कोशिकानुवंशिकी कोशिका जीव विज्ञान, कोशिका रसायन
1975	प्रो. बी.जी.एल. स्वामी	प्रोफेसर वनस्पति विज्ञान, प्रेसिडेंसी कालेज, मद्रास	आकृति विज्ञान, शरीर भ्रूण विज्ञान
1976	प्रो. डी. डी. पंत	अध्यक्ष, वनस्पति विज्ञान विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद	पुरावनस्पति विज्ञान, आकृति विज्ञान, संवहनी पादपों का शरीर
1977	प्रो. के. के. नंदा	प्रोफेसर, वनस्पति विज्ञान विभाग, पंजाब विश्वविद्यालय, चंडीगढ़	पादप शरीर क्रिया विज्ञान, जैव रसायन संरचना विकास

परिशिष्ट-2

भूवैज्ञानिक कालमान

प्रणाली	विकास (0)[1]
नूतन (होलोसीन) अत्यंत नूतन (1)[2]	विस्तृत हिमनदन । पर्वत वर्तमान ऊंचाई पर पहुंच जाते हैं । स्तनपायियों की शीत में मृत्यु हो जाती है । मानव का आविर्भाव होता है । वर्तमान प्राणिजात एवं वनस्पतिजात नूतन कल्प में । (1)
अतिनूतन/मध्य-नूतन (25)	समुद्री तलछट हिमालय एवं एल्प्स पर्वतों के ऊपर उठ गया । वनस्पतिजात शीतोष्ण होने लगा । जैसे जैसे घास के मैदान बढ़ने लगे, वैसे वैसे चारणों का विकास होने लगा । अतिनूतन में कपिमानव का मानव में परिवर्तन ।(26)
अल्पनूतन/आदिनूतन (35)	हिमालय-एल्प्स पर्वत । अग्रिये सक्रियता ताड़, मांसाहारी, कृंतक, प्रारंभिक अश्वहाथी, लीमर । आधुनिक जीवन का ऊषा काल, बंदर, अल्पनूतन में कपि । स्तनपायियों का चरम उत्कर्ष । (61)
क्रिटेशस (70)	समुद्र का अधिकतम फैलाव । पुष्पन पादप, पतझड़ी वृक्ष । डाइनोसोर दांत वाले पक्षियों का चरम उत्कर्ष, विलुप्त होना; शिशुधानियों के पूर्वज, अपरास्तवी । (131)
जुरैसिक (40)	पहाड़ियां, दलदली झीलें, विसर्प । शीतोष्ण जलवायु । प्रचुर वनस्पति । दक्षिणी गोलार्ध का विभाजित हो जाना । उड़ने वाले कीट । दीमक, शुंबुक, मेंढक, दांत वाले पक्षी । (171)

---

1. दस लाख वर्षों में आयु
2. दस लाख वर्षों में कालावधि

ट्राईऐसिक (30)	मरुस्थल, ढाल मलबा से ढके पर्वत, डेल्टाफैन, दोनों गोलार्धों को विभाजित करता हुआ टिथियन सागर । शंकुवृक्ष, साइकैड का बाहुल्य, डाइनोसोर । प्रथम स्तनधारी । ऐमोनाइटों का विकसित होना । (201)
पर्मियन (25)	महाद्वीपीय उत्थान एवं पर्वतन । लैगूनों में लवण निक्षेप । जलवायवीय अतिविषमताएं । विकास एवं विलोप । स्तनधारी सरीसृप । शंकुवृक्ष । (226)
कार्बनी (55)	कोष्ण आर्द्र जलवायु । कोयले का निर्माण । शल्क वृक्ष, अनूपों में बीज पर्णांग । सरीसृप । कवच संदलनी शार्क । भुजपाद, मोलस्का, ब्रायोजोआ का संवर्धन । (281)
डिवोनी (55)	पर्वतों का अपरदन । भूमि का अंशतः पेड़-पौधों से आच्छादित होना । भूमि एवं अलवण जल अकशेरुकी, पंखहीन कीट । (336)
सिल्यूरिन (35)	सागरों का गहरा होना । समजलवायु । विस्तृत प्रवालभित्ति । पादपों में स्थलीय जीवन के प्रति अनुकूलन का विकास, पर्वतों का निर्माण । (371)
आर्डोविशन (80)	सागरों का फैलाव । जैवरासायनिक । निक्षेप । नवीन अकशेरुकी । ग्रेफ्टोलाइट । (451)
कैम्ब्रियन (100)	छिछले समुद्र द्वारा भूमि का अतिक्रमण । कटोर अवयवों वाले प्रथम अकशेरुकी–ट्राइलोबाइट, ब्रैकियोपॉड । (551)
कैम्ब्रियन पूर्व (949)	पर्वतों की दृश्यभूमि, मरुस्थल एवं ज्वालामुखी, पृथ्वी के वलनों में जल का संघनन । शैवालीय अवक्षेपण । तलसर्पी कृमि । (1500)
आघमहाकल्प (2500)	पृथ्वी का ठोस होना । जीवाणुज लौह एवं कार्बनी निक्षेप की उपस्थिति से जीवन के होने का अनुमान । (4000)

परिशिष्ट-3

प्रोफेसर बीरबल साहनी के अनुसंधान-लेखों की सूची

1915 गिंरी के बीजाड़ो में बाहरी पराग और जीवाश्म पादपों के अध्ययन में इसका महत्व । *न्यू फाइटोलाजिस्ट* 14 (4 एवं 5), 149-151

1915 नेफ्रोलेपिस वालुविलिस जे. सिम का शरीर इस वंश की जैविक एवं आकारिकी पर टिप्पणी के साथ ।*न्यू फाइटोलाजिस्ट* 14 (8 एवं 9) 251-274

1916 नेफ्रोलेपिस के कंदों का संवहनी शरीर । *न्यू फाइटोलाजिस्ट* 15 (3 एवं 4) 12-80

1917 फिलिकेलीज में शाखन के विकास पर विचार । न्यू फाइटोलाजिस्ट 16 (1 एवं 2), 1-23

1918 जाइगोप्टेरिडीय पत्र के शाखन और जाइगोप्टेरिस सिनु ओसा गोपर्ट के संभावित पिच्छक प्रकृति के साथ इसके संबंध पर विचार । *ऐन. बाट* 32 (127), 369-379

1919 (जे. सी. विलिस के साथ) लासन की वनस्पति विज्ञान की पाठ्य-पुस्तक । *लंदन विश्ववि. टुट प्रेस*

1919 कलेफ्सीड्राप्सिस के आस्ट्रेलियाई नमूने पर । *ऐन. बाट* 33 (129), 81-92

1920 क्वीन्सलैंड के मध्यजीवी और तृतीयक शैल समूहों के अश्मीभूत पादप अवशेष । क्वीन्सलैंड जिओलाजिकल सर्वे पब्लिकेशन नं. 267, पृ. 1-48

1920 एक्सोपाइल पंचेरी पिलगर की सरंचना और बंधुता पर । *फिला. ट्रांजें* बी. 210, 253-330

1920 (ए.सी. सेवार्ड के साथ) भारतीय गोंडवाना पादप : एक संशोधन । *मेमो. जिओला, सर्वे इंड. पैल. इंड.* 7 (1), 1-40

1920 टैक्सस बकाटा के बीच के कुछ पुराकालीन लक्षणों पर विचार टैक्सीनिआ की प्राचीनता पर टिप्पणी के साथ । *ऐन. बोटे.* 34 (133) 117-133

1921 टेसिप्टेरिस के बीजाणुपर्ण में एक नवीन अप्रसामान्यता पर ।

प्रोसिः (*8 इंडि. सां. क्रां. कलकत्ता*) *एशियाटिक सो. बं.* (एन. एस) 17 (4), 179

1921 खुनमु (कश्मीर) के निकटस्थ पादपयुक्त संस्तरों से मिला एक स्तंभ मुद्राश्म जिसे अंतिम रूप से गंगामोप्टेरिस काश्मीरेन्सिस सेवार्ड नाम दिया गया । *प्रोसी. (8 वीं. इंडि. सां. कां. कल.) एशियाटिक सो.* बे. (एन. एस.) 17 (4), 200

1921 सिफैलोटैक्सस पेडुनकलाटा के बीज में शिविरदंड की उपस्थिति पर टिप्पणी *ऐन. काट* 35 (138) 297-298

1921 भारतीय पुरावनस्पति विज्ञान की वर्तमान स्थिति । *प्रेसि. ऐड्रेस 8 वां इंडि. सां. कां. कल. प्रोसि. एशियाटिक सो. बं.* (एन. एस.) 17 (4), 152-175

1923 साईलोटैसिआई के स्पोरोन्त्रियोफोरिस में तथाकथित कुछ अप्रसामान्यताओं के. सैद्धांतिक महत्व पर । *ज. इंडि. बोटेनिकल सो.* 3 (7), 185-191

1923 आधुनिक साइलोटैसिआई और पुराकालीन पार्थित पेड़-पौधे, *नेचर,* 3, 84

1923 ग्लासप्टेरिस आगस्टीफोलिया ब्रगंव की उपत्वत्ता की संरचना पर । *रेकार्ड जिओला. सर्वे आफ इंडिया* 54 (3), 277-286

1924 सरकारी संग्रहालय मद्रास से प्राप्त कुछ अश्मीभूत पादपों के शरीर पर । *प्रोसि. 11वां इडि. सां. कां.* बंगलौर, पृ. 151

1925 संवहनी पादपों की ऐन्टोजेनी और पुरावर्तन का सिद्धांत । *जर्नल इंडि. बोटे. सो.* 4 (67), 202-216

1925 (ई.जे.ब्रैडशा के साथ) आसनसोल के निकटस्थ निचले गोंडवाना की पंचेट श्रेणी में एक जीवाश्मी वृक्ष । *रेका. जिओला. सर्वे. इंडिया* 58 (1), 77-79

1925 मेसीप्टेरिस वाइलार्डी डैंगियर्ड पर, जो न्यूकैलिडोनिया की एक पार्थिव जाति थी । *फिलां. ट्रांजै. बी.* 213, 143-170

1926 (टी. सी. एन. सिंह. के साथ) न्यू. साउथवेल्स और क्वीन्सलैंड के डैडाक्सिलान अर्बेरी सेवार्ड के कुछ नमूनों पर। *ज. इंडियन बोटे. सोसा.* 5 (3), 103-112

1926 दक्खिनी जीवाश्मी वनस्पतिजात-भूतकाल के पादप भूगोल में एक अध्ययन। (प्रेस्टी. ऐड्रे) *13वां, भारतीय साइंस कांग्रेस,* बंबई, पृ. 229-254

1927 (ए. के. मित्रा के साथ) डेक्रीडियम की कुछ न्यूजीलैंड की जातियों के शरीर पर टिप्पणी। *ऐन. बोट.* 41, (161), 75-89

1927 ब्रिटिश संग्रहालय, लंदन के भारतीय जीवाश्मी शंकुवृक्षों के कुछ अश्मीभूत शंकुओं पर। *प्रोसी. 14वां इंडियन साइंस कां.,* लाहौर, पृ. 215

1927 उत्तर पश्चिमी हिमालय में छाम्ब के निकट स्थित खजियार के तिरते हुए द्वीप और वनस्पति पर टिप्पणी। *जर्नल इंडि. बोटे. सौ.* 6 (1), 1-7

1928 असम के तृतीय कल्पी संस्तरों से प्राप्त द्विबीजपत्री पादपों के अवशेष। *प्रोसी. 15वां इंडि. सां. कां.,* कलकत्ता, पृ. 294

1928 आस्ट्रेलिया के कार्बनी फेस्स शैलों से मिले क्लेप्सीडेरिस आस्ट्रेलिस पर, जो जाइगोप्टेरिड वृक्ष पर्णांग है और जिसमें टेमप्सकिया की तरह दिखावटी तना होता है। *फिला. ट्रौजै. बी.* 217, 1-37

1928 भारतीय जीवाश्मी पादपों का संशोधन भाग-1 कानीफेरेलीज (मुद्राश्म एवं पेर्पटाश्म) *मेमो. जिओला. सर्वे. इंडि.* (एन. एस.)

1930 उत्तर पुराजीवी वनस्पतिजात से पूर्व मध्यजीवी वनस्पतिजात का संबंध। *प्रो. 5वां, इंटरने बोटे. कां. कैम्ब्रिज,* पृ. 503-504

1930 ऐस्टरोक्लीनाश्चिस पर, जो पश्चिमी साइबेरिया के जाइगोप्टेरिस वृक्ष पर्णांग का एक नया वंश है। *फिला. ट्राजै बी.* 218, 447-471

1931 पुराजीवी वृक्ष पर्णांग सैरोनियस के तनों पर मिलने वाले कुछ जीवाश्मी अधिपादपीय पर्णांगों पर। *प्रो. 18वां इंडि. सां. कां. नागपुर,* पृष्ठ 270

1931 (टी. सी. एन. सिंह के साथ) फिटज्रोया पैटागोनिक के मादा शंकुओं और कायिक शरीर पर टिप्पणी। (हुक फिल्स) *ज. ई. बा. सौ.* 10 (1), 1-20

1931 भारतीय अश्मीभूत ताड़ पर प्रबंध के लिए सामग्री । *प्रो. एका. सो. उ. प्र.* 1, 140-144

1931 भारतीय जीवाश्मी पादपों का संशोधन, भाग II कानीफेरेलीज (बी. अश्मीभूवन, मेमो. जिओला, *सर्वे इंडि. पैल. इंडि.* (एन. एस.) 2-51-124

1931 फुटकर टिप्पणियां । भारतीय जीवाश्मी पादपों का संशोधन, भाग II कानफेरेलीज पर संपूरक टिप्पणी । (बी. अश्मीभूवन) *रे. जिओला. सर्वे. इं.* 65 (3), 441-442

1932 टीनियोप्टेरिस पैचुलाटा के साइकैडोफाइट बंधुताओं का शारीरिक प्रमाण (एम. सी. सी. एल.) *प्रो. 18वां इं., साइं कां. बं.*, पृ. 322

1932 पामोक्सिलान माथुरी, कुछ पश्चिमी भारत के अश्मीभूत ताड़ का एक नया वंश । *प्रो. 18वां. इं. सा. कां. बंग.*, पृ. 322

1932 अन्गेर के क्लेप्सीड्राप्सिस और क्लैडाक्सिलाम जातियों तथा एक नवीन जाति आस्ट्रोक्लेप्सिस पर । *न्यू फाइटोला.* 31 (4), 270-278

1932 राजमहल की पहाड़ियों (बिहार) से प्राप्त होमोजिलान राजमहलेन्से जाति, एक जीवाश्मी आवृतबीजी काष्ठ, वाहिकाहीन । *मेमो, जिओला. सर्वे. इं. पैल. इं.* 20 (2), 1-19

1932 राजमहल पहाड़ी, भारत से अश्मीभूत विलियमसोनिया (*पू. सेवार्डियाना वि. न. मेमो, जिओला, सर्वे, इं. पैल. इं.* 20 (3), 1-19

1932 पुराजीवी वृक्ष पर्णांग, ग्रामैटोप्टेरिस बाल्डौफी (पिक) हिर्मर; जाइगोप्टेरिडिआई और आसमन्डेसि आई के बीच की कड़ी । *ऐन. बोटे.* 46 (148), 863-877

1932 गर्बेरा लेंगुनिओसाइ में स्तंभीय गति । *जे. इं. बो. सो.* 11 (3) 241-242

1933 समदारूक द्विबीजपत्री का कायिक शारीर टेट्रो सैन्ट्रान सिमेस ओलिव, *प्रो. 20वां रूप का. पटना*, पृ. 317

1933 (ए. आर. राव के साथ) राजमहल पहाड़ियों के कतिपय जुरैसिक पादपों पर । *एशि. सो.बं.* (एन.एस.) 27 (2), 183-208

1933 डैगाक्सिलान जलेस्काई, भारत के निम्न गोंडवाना से कार्डेटेलीज वृक्षों

की एक नई जाति । *रेका. जिओला. सर्वे इंडिया* 66 (4), 414-429

1933 पांडिचेरी, दक्षिणी भारत से एक जीवाश्मी पैन्टालोकुलर फल *रेका. जिओला, सर्वे. इंडिया* 66 (4), 430-437

1933 गिन्गो के कुछ अप्रसामान्य पत्तों पर । *ज. इंडि. बोटे. सो.* 12 (1), 50-515

1933 विस्कम खैपोनिकम थंब में विस्फोटकात्मक फल *ज. इ. बोटे. सो.* 12 (2), 96-101

1934 दक्कन अंतराट्रेपी श्रेणी के सिलिकीभूत वनस्पतिजात भाग 1, साधारण । *प्रो. 21वां. इ. सा. कां. बंबई* 316-317

1934 दक्कन अंतराट्रेपी श्रेणी के सिलिकीभूत वनस्पतिजात भाग 2 आवृतबीजी और अनावृतबीजी फल । *प्रो. 21वां इ. सा. का. बंबई,* 317-318

1934 (डब्ल्यू. पी. श्रीवास्तव के साथ) दक्कन अंतराट्रेपी श्रेणी का सिलिकीभूत वनस्पतिजात भाग 3 सौसारोस्पर्मम फार्मोरी । *सा. एवं विशेष नव. प्रो. 21वां सा. कां. बंबई,* पृ. 318

1934 डा. एस. के. मुकर्जी एफ. एल. एस. (1896-1934) निधन वृत्तांत, *ज. इ. बो. सो.* 13 (3), 245-249

1934 (ए. आर. राव के साथ) राजमहलिया पैराडोक्सा साधारण और विशेष नव. और राजमहल पहाड़ियों से पादप । *प्रो. ई. एका. सा.*-1 (6) 258-269

1934 डा. डुकिनफिलड हेनरी स्काट (निधन वृत्तांत) *करेंट साइंस* 2 (10), 392-395

1934 दक्कन ट्रैप : क्या वे क्रिटेशस कल्प के हैं या तृतीय कल्पी हैं । *करेंट साइंस* 3 (10), 392-395

1935 भारतीय गोंडवाना वनस्पतिजात के साइबेरिया और चीन के वनस्पतिजात से संबंध । *प्रो. 2 रा. का. कार्ब. स्ट्रेटिंग हीरलेन हालैंड, काम्पटेरेन्डु,* 517-518

1935 होमाक्सिलान और संबंधित काष्ठ और आवृतबीजियों का मूल । *प्रो. 6वां इंटरने. बो.कां. एम्सटर्डम,* 2, 237-38

1935 भारत का ग्लोसोएरिस वनस्पतिजात । *प्रो. 6वां इंटर ने. बो कां.*

एम्सटर्डम, 2, 245-248

1935 राजमहल वनस्पतिजात में अद्यतन खोज । *प्रो. 6वां इंटरने. बो.कां. एम्सटर्डम,* 2, 248-249

1935 (ए. आर. राव के साथ) राजमहालिया पैराडोक्सा पर कुछ और विचार । *प्रो. इंडि. अकाडे. सां.*1 (11) 710--713

1935 सैरोनियस की जड़ें, आंतर बलकुट या बाह्य बलकुट । विचार-विमर्श । *करेंट साइंस* 3 (2), 555-559

1935 पर्मो कार्बनीफेरेस समप्राफि प्रदेश विशेष रूप से भारत के संदर्भ में । *करेंट साइंस* 4 (6), 385-390

1936 आवृतबीजियों के वर्तिका नाल और अंडाशय में परागकण । *करेंट साइंस* 4 (8), 587-588

1936 जमुना घाटी में रोहतक के खोकरकोट टीले से प्राप्त पुरावशेष । *करेंट साइंस* 4 (11) 796-801

1936 कश्मीर का करेवा । *करेंट साइंस* 5 (1), 10-16

1936 खोकरा कोटाटीलय (रोहतक) से प्राप्त सुंग काल की मिट्टी की मुद्रा और मुद्रण । *करेंट साइंस* 5 (2), 80-81

1936 मानव के आविर्भाव के समय से हिमालय का उत्थान, इसका सांस्कृतिक-ऐतिहासिक महत्व । *करेंट साइंस,* 5 (1), 10-16

1936 रोहतक से प्राप्त तथाकथित संस्कृत मुद्रा । *करेंट साइंस* 5 (4), 206-215

1936 पुरावनस्पतिक प्रमाणों के प्रकाश में वेगनर का महाद्वीपीय विस्थापन का सिद्धांत । *ज. इं. बो. टे. सो.* 15 (5), 319-322

1936 भूवैज्ञानिक प्रमाणों के प्रकाश में अंगारा वनस्पतिजात की गोंडवाना बंधुता । *नेचर,* 138 (3495), 720-721

1936 भारत में मेटोनिडियम और विचसेलिणप का पाया जाना । *रेका, जिओला. सर्वे. इं.* 71 (2), 152-165

1937 भारत के निम्न गोंडवाना की जलवायु संबंधी परिकल्पना । *प्रो. 17 वां इंटरने. जिओला का.* मास्को, पृ. 217-218

1937 बरमा के दक्षिणी शान राज्यों से एक मध्यजीवी शंकुधारी काष्ठ

मैसेम्ब्रियोक्सिलान शैनेन्से स्पे. नव (*रेका. जिओला. सर्वे. ई.* 71 (4), 380-388

1937 (डब्ल्यू गोथन के साथ) स्पीती (उत्तर पश्चिमी हिमालय) की पो. श्रेणी से जीवाश्मी पादपों *रे. जि. सर्वे. इ.* 72 (2), 195-206

1937 गिगानोप्टेरिस वनस्पतिजात पर हैले एवं चांगमैन्स द्वारा लिखित लेख पर टिप्पणी ।*काम्प्टे रेन्डु डु, स्ट्रेटीग्राफिक कार्बोनीफेर ही रलेन,* 1935, पृ. 517-518

1937 स्वर्गीय सर जे. सी. बोस. का आशंसन । *साइंस एंड कल्चर* 31 (6), 346-347

1937 प्रो. के. के. माथुर (श्रद्धांजलि) । *करेंट साइंस* 5 (7), 365-366

1937 पादपों के संसार में क्रांतियां । (प्रेस ऐड) *प्रो. ने. अकादमी साइंस इंडिया,* पृ. 46-60

1937 दक्कन ट्रैप का काल । साधारण विचार-विमर्श । *प्रो. 24वां इं. सा. का. हैदराबाद,* पृ. 464-468

1937 भारत और उसके निकटस्थ देशों के संदर्भ में बेगनर का महाद्वीपीय विस्थापन-सिद्धांत । (साधारण विचार-विमर्श) *प्रो. 24वां इं. सा. का. हैदराबाद,* पृ. 502-506

1938 (के. पी. रोडे के साथ) मोह गांव कलां मध्य प्रदेश के दक्कन अंतराट्रेपी संस्तरों के जीवाश्मी पादप, पादपधारी संस्तरों की भूवैज्ञानिक स्थिति पर टिप्पणी के साथ । *प्रो. ने अंका. सा. इं.* 7 (3), 165-174

1938 भारतीय पुरावनस्पति विज्ञान में अद्यतन प्रगति । (प्रे. ए. बाटनी सैक्सशन) *प्रो. 25वां इ. सां. कां. जुबिली सेशन कलकत्ता* (2), 133-176 और *लखनऊ यूनिवर्सिटी स्टडीज* (2), 1-100

1939 जीवाश्मी पादपों और जंतुओं की कालानुक्रमी के साक्ष्य से विषमताएं । *प्रो. 25वां इं. सां. कां. कलकत्ता* (4) विवेचना पृ. 156-163 और 195-196

1939 ग्रेसोप्टेरिस वनस्पतिजात का गोंडवाना हिमनदन से संबंध (प्रे. ए. बायो. सैशन) *प्रो. इं. अका. सा.* 9 (1) बी-1-6

1939 हिमालयी भू अभिनति का पूर्व की ओर प्रशांत महासागर में खुलना । *प्रो 6वां पैसिफिक सा. कां.* पृ. 241-244

1940 दक्कन ट्रैपः तृतीय कल्प की घटना (1) (साधारण प्रे. ए.) *27वां इं. सां. कां मद्रास* (2) पृ. 1-12 *नेचर* 3 (1) 15-35 1944 (गुजराती अनुवाद) प्रबुद्ध करनाटक 22 (2), 5-19 (कन्नड़ अनुवाद) एच. एस. राव द्वारा ।

1940 भारत के कोयले के संस्तरों को पुरावनस्पति वैज्ञानिक सहसंवर्धन । *प्रो. ने. इं. स्प. इं.* 6 (3), 581-582

1940 सतलज घाटी में लुधियाना के निकट सुमेत के यौधेय सिक्कों के सांचे । *करेंट साइंस* 10 (3), 65-67

1941 सूक्ष्मदर्शी के स्लाइडों के लिए स्थायी लेबल । *करेंट साइंस* 10 (11), 485-486

1941 भारतीय सिलिकीभूत पादप । एजोला अंतराट्रेपी । साहनी और एच. एस. राव । *प्रो. इं. अका. साइंस* 14 (6) बी., 489-499

1942 पादप विज्ञान का संक्षिप्त इतिहास और पादप कोशिका का कोशिका-द्रव्य । समीक्षा, *करेंट साइंस* 11 (9), 369-372

1943 रोडाइटीज जेन. नव पैलियोबाटनी इन इंडिया 4 *ज. इं. बो.सो.* 22 (2-4), 179-184

1943 अश्मीभूत ताड़ स्तंभों की एक नई जाति, पामोक्सिलान स्कलेरोडरमम दक्कन अंतराट्रेपीय श्रेणी से स्पे. नव. । *ज. इं. बो. सो.* 22 (2-4), 209-225

1943 भारतीय सिलिकीभूत पादप । 2 इनिग्मोंकारपान परिजय, दक्क्न का एक सिलिकीभूत फल । लिथ्रोसिआई के जीवाश्मी इतिहास की समीक्षा के साथ । *प्रो. इं. अका. सा.* 17 (3) बी., 59-96

1943 (एस. आर. एन. राव के साथ) चारा सौसारी पर स्प. नव दक्कन में सौसार के अंतराट्रेपी चर्टों से एक चारा । सेन्सु ट्रिक्टो (*प्रो. ने. अका. सां. इं.* 13 (3), 215-223

1943 (एच. एस. राव के साथ) दक्कन में सौसार के इर्दगिर्द के अंतराट्रेपीय चर्टो–सिलिकीभूत वनस्पतिजात । *प्रो. बे. अका. साइं.* 13 (1), 36-45

1944 पंजाब के साल्टरेंज की लवण श्रेणी का काल । *नेचर,* 153-462

1944 (के. आर. सुरागे के साथ) दक्कन तृतीयक से साइ क्लांए हैनिमाई

	का एक सिलिकीभूत सदस्य। नेचर, 13.4-114-115
1944	(बी. एस. त्रिवेदी के साथ) पंजाब के साल्ट रेंज में लवण श्रेणी का काल । *नेचर,* 153-54
1944	पंजाब के साल्ट रेंज का काल अद्यतन प्रमाण के परिप्रेक्ष्य में (प्रेस. पेड. ने. अ. सा. इं.) *प्रे. मेश अका. सा. इं.* 14 (1-2), 49-66
1944	नागपुर, म. प्र. के निकट ताकली से सिलिकीभूत फल और बीज (हिसलाप और हंटर संग्रह) भारत में पुरावनस्पति विज्ञान-5 । *प्रो. ने. अ. सा. इं.* 74-(1-2), 80-82
1945	प्राचीन भारत में सिक्का ढालने की प्रविधि । *मेमो. न्यूमिस. सो. इं.* (1), 1-68
1945	(बी. एस. द्विवेदी के साथ) पंजाब के साल्ट रेंज की लवण श्रेणी का काल । *नेचर,* 155-76
1945	सूक्ष्म जीवाश्म और साल्ट रेंज भूविज्ञान की समस्याएं (*प्रेस. ऐड. ने. अ. सा. इं.* 14(6), i-xxxii
1945	(आर. वी. सिथोले के साथ) पंजाब के साल्ट रेंज से कुछ मध्यजीवी पर्णांग *प्रो. ने. अ. सा. इं.* 15 (3), 61-73
1945	बी.पी. श्रीवास्तव पर निधन-टिप्पणी *प्रो. ने. इं. सा.* 15(6), 185-187
1946	ग्रोसोप्टेरिस के प्रारंभिक चिह्न की खोज । सी. विकी के लेख 'इंडिया और आस्ट्रेलिया के निम्न गोंडवाना से बीजाणु' की प्रस्तावना । *प्रो. ने. आ. सा. इं.* 15 (4-5), 3-50
1946	विकास का एक संग्रहालय । *करेंट साइंस* (4), 15.99-100
1946	आर्द्र ऊष्ण जलवायु में संग्रहालयों के लिए स्थायी लेबल । *ज. इं. म्यु* । 707-708
1947	सूक्ष्म जीवाश्म और साल्ट रेंज क्षेत्र । लवण श्रेणी के काल पर द्वितीय परिसंवाद में प्रारंभिक भाषण । *प्रो. ने अका. सां इं.* 16 (2-4), i-1
1947	दक्कन के अंतराट्रेपीय संस्तर से एक सिलिकीभूत कोकोज की तरह ताड़ स्तंभ पामोक्सिलान (कोकोज । सुंदरम) *ज. इं. वोटे. सो.* आयंगार स्मृति ग्रंथ पृ. 361-374

1947 जीवाश्मी विज्ञान और भूवैज्ञानिक काल का मापन । *करेंट साइंस* 16, 203-206

1947 प्रो. जार्ज मथाई (निधन वृत्तांत)। *करेंट साइंस* 16, 279-280

1947 भूविज्ञान में सूक्ष्म जीवाश्मी विज्ञान एम. एफ. ग्लीसनर द्वारा लिखित सूक्ष्मजीवाश्म विज्ञान के सिद्धांत की समीक्षा, *नेचर,* 160-771

1947 जीवाश्मों द्वारा उद्घाहित पृथ्वी के इतिहास के कुछ पक्ष । काशी विद्यापीठ रजत जयंती स्मृति ग्रंथ, पृ. 1-27

1948 भारत में परमाणु विज्ञान का भविष्य, स्जेन्स्क वाट टिस्को 42 (4), 474-477

1948 पेक्टोक्सिलिआई राजमहल पहाड़ी, भारत से जुरैसिक अनावृतबीजियों का एक नया समूह । *बोटे, गजेट,* 110 (1), 47-80

मुद्रक : ब्यूटी प्रिंट, 10/8020 मुलतानी ढांडा, पहाड़गंज, नई दिल्ली-55